UNIVERSAL LIBRARY

OU_186386

UNIVERSAL LIBRARY

H616.075/P85N G H. 2846
पोद्दार, महावीर प्रसाद.
नवीन चिकित्सा. १९५१.
11 APR 1968

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 616.075 P85N Accession No. G.H 2846

Author पोद्दार, महावीरप्रसाद

Title नवीन चिकित्सा 1941

This book should be returned on or before the date last marked below.

APR 1966			

नवीन चिकित्सा

सुविख्यात चिकित्सा-शास्त्री लुई कूने की

'न्यू साइन्स ऑव हीलिंग'

के आधार पर लिखित

महावीरप्रसाद पोद्दार

●

पुस्तक भेंट के निमित्त है

१९६१

सस्ता साहित्य मण्डल-प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय,
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल,
नई दिल्ली

पहली बार : १९६१
मूल्य
सजिल्द : अढ़ाई रुपये
अजिल्द : डेढ़ रुपया

Checked 1969

मुद्रक
श्री जैनेन्द्र प्रेस,
दिल्ली-६

प्रकाशकीय

प्राकृतिक चिकित्साके क्षेत्रमें जर्मनीके सुविख्यात चिकित्सा-शास्त्री लुई कूनेसे सब भली-भांति परिचित हैं। उन्होंने ऐलोपैथीकी सीमाओं और ओषधिवादकी हानियोंको देखकर प्राकृतिक चिकित्साकी ओर ध्यान दिया और डाक्टरों तथा ऐलोपैथीके समर्थकोंके विरोधकी चिन्ता न करके नई चिकित्सा-पद्धतिकी श्रेष्ठताको प्रमाणित किया। उन्होंने सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक रूपसे यह सिद्ध करके दिखा दिया कि प्राकृतिक चिकित्सा-में ऐलोपैथीके दोष नहीं हैं, वह पूर्ण वैज्ञानिक है और उसके द्वारा नये-पुराने सब प्रकारके रोगोंको अच्छा किया जा सकता है।

लुई कूनेकी इस विषयकी अत्यन्त महत्वपूर्ण पुस्तक है 'दि न्यू साइन्स ऑव हीलिंग'। इस पुस्तकको इतनी लोकप्रियता प्राप्त हुई है कि अबतक इसके पचास संस्करण हो चुके हैं और विश्वकी पच्चीस भाषाओंमें उसके अनुवाद प्रकाशित हुए हैं।

इसी पुस्तकके आधारपर प्रस्तुत पुस्तककी रचना की गई है। मूल भावों और सार-तत्वको सुरक्षित रखकर श्री महावीरप्रसाद पोद्दारने भारतीयोंकी दृष्टिसे अनेक अनावश्यक विस्तारोंको कम कर दिया है और भाषाको इतना सरल-सुबोध बना दिया है कि सामान्य पढ़े-लिखे लोग भी इसे आसानीसे समझ सकते है।

श्री पोद्दारजीकी प्राकृतिक चिकित्सा-संबंधी तीन पुस्तकें 'मण्डल'से प्रकाशित हो चुकी हैं। प्राकृतिक चिकित्सामें उनकी रुचि सर्वविदित है। जसिडीहमें वह एक प्राकृतिक चिकित्सालयका संचालन भी कर रहे हैं। ऐसी दशामें एक विशेषज्ञ द्वारा प्रस्तुत पुस्तकमें पाठकोंको जहां लुई कूनेके अनुभवका लाभ मिलेगा, वहां श्री पोद्दारजीकी सार ग्रहण करनेकी कुशलताका भी परिचय मिलेगा।

पुस्तकमें तीन खण्ड प्रमुख हैं। पहलेमें लेखकने बताया है कि नवीन चिकित्साका उन्होंने किस प्रकार आविष्कार किया; बीमारियोंका मूल कारण क्या है; बच्चोंके रोगोंकी जड़ और उपचार; इलाजके मुख्य साधन; सही खानपान आदि-आदि।

दूसरे खण्डमें लेखकने विभिन्न रोगोंके कारण, उनका स्वरूप और उनकी चिकित्सा बताई है।

तीसरेमें उन्होंने बताया है कि घावोंको बिना दवा और चीड़-फाड़के किस प्रकार अच्छा किया जा सकता है। स्त्रियोंके विभिन्न रोग, उनके कारण और उपाय, गर्भवती स्त्रियोंकी देखभाल, प्रसूति, शुरूके महीनोंमें बच्चोंका पोषण, आदि-आदि।

पुस्तक निस्संदेह बड़ी ही उपयोगी है। इसे पढ़कर पाठकोंको तत्काल रोगोंका निदान करके उन्हें रोकने और अच्छा करनेकी जानकारी मिलेगी। इतना ही नहीं, उन्हें यह भी पता चलेगा कि हम किस प्रकार अपनेको स्वस्थ रख सकते हैं और किन उपायोंसे रोगोंके आक्रमणसे अपनेको बचा सकते हैं।

सच बात यह है कि दुनियामें सब तन्दुरुस्त रहना चाहते हैं, लेकिन बहुत थोड़े लोग जानते हैं कि स्वस्थ कैसे रहा जा सकता है। अपने अनियमित और गलत खान-पानसे लोग बीमार पड़ते हैं और फिर डाक्टरों और दवाइयोंके फेरमें पैसा बर्बाद करते हैं। मजेकी बात यह है कि अपनी उतावलीमें बहुत-से लोग रोगोंको दबानेकी कोशिश करते हैं, उसे जड़-मूलसे नष्ट करनेकी नहीं। परिणाम यह कि ज्यों-ज्यों दवा ली जाती है, मर्जकी जड़ें जमती जाती हैं।

पिछले वर्षोंमें हमारे देशमें प्राकृतिक चिकित्साका प्रचलन काफी बढ़ा है और कई स्थानोंपर अच्छे प्राकृतिक चिकित्सा-केन्द्र कार्य कर रहे हैं। फिर भी लोगोंका पूरा विश्वास अभी तक उसपर नहीं जम पाया है।

हम आशा करते हैं, यह पुस्तक प्राकृतिक चिकित्साके ध्येय को आगे बढ़ानेमें सहायक होगी। इसे पढ़कर जहां पाठक स्वस्थ रहना सीखेंगे, वहां मामूली-से-मामूली और कठिन-से-कठिन रोगोंसे अच्छा होनेका उपाय भी जानेंगे।

इस पुस्तकमें चित्र भी बहुत-से दिये गए हैं। उनसे विषयको समझनेमें विशेष सहूलियत हो जाती है।

—मंत्री

विषय-सूची

खण्ड १

१.	चिकित्साके आविष्कारकी कहानी	१
२.	रोगकी उत्पत्ति	१५
३.	बच्चोंके रोग—खसरा, बुखार, गलघोंटू (डिप्थीरिया), चेचक	३४
४.	गठिया, आमवात, गृध्रसी, कुबड़ापन आदि	५४
५.	रोग-निवृत्तिके साधन—भाप-नहान, कटि-स्नान, मेहन-स्नान	७४
६.	खान-पानका प्रश्न—पाचन-क्रिया	९१
७.	हम क्या खायें-पीयें ?	१०२

खण्ड २

१.	स्नायवीय, मानसिक तथा उन्निद्र रोग	१०९
२.	फेफड़ोंके रोग	११६
३.	जननेन्द्रिय रोग	१२४
४.	मूत्राशयिक, यकृत, पथरी, पांडु आदि रोग	१२९
५.	हृदयरोग और जलोदर	१३६
६.	मेरुदण्ड-सम्बन्धी रोग	१४२
७.	रक्तहीनता, हरित, पांडुरोग	१४३
८.	मिरगी	१४८
९.	कान और आंखके रोग	१४९
१०.	दंतरोग, जुकाम, इन्फ्लुएंजा	१५१
११.	अधकपाली, मस्तिष्कका क्षय, सिरदर्द आदि	१५४
१२.	टाइफस, पेचिश, हैजा, अतिसार	१५६

१३.	ज्वर, मलेरिया, पित्तज्वर, पीलाज्वर आदि	१५९
१४.	कुष्ठ	१६३
१५.	खुजली, आंत उतरना	१७०
१६.	सरतान, कैंसर, बद गोश्त	१७२

खण्ड ३

१.	घावोंकी चिकित्सा	१७४
२.	स्त्री-रोग	१७९
३.	गर्भाशय सरक जाना, पेसरीका प्रयोग	१८३
४.	प्रसूत ज्वर	१८६
५.	बिना पीड़ाके बच्चा जनना	१८७
६.	बच्चा जननेके बाद	१९१
७.	बच्चेका पालन-पोषण	१९४

नवीन चिकित्सा

नवीन चिकित्सा

खण्ड १

: १ :

चिकित्साके आविष्कारकी कहानी

कोई मनुष्य किसी नई, मौलिक वस्तुका आविष्कार करता है तो लोगोंपर प्रकट करनेकी उसकी स्वभावतः प्रबल इच्छा होती है। इसकी आड़में महत्त्वाकांक्षा या अहंभावना छिपी हो सकती है, पर मनुष्यकी इस स्वाभाविक भावनाको अनुचित नहीं कहा जा सकता। अभिमान, आडम्बर, दम्भ और वासनासे घिरे रहते हुए भी, सत्यको प्रकट करना मनुष्य-का परम कर्त्तव्य है, इसी विचारसे मैं अपने तीस सालसे अधिकके अखंड श्रमका फल पाठकोंके सामने रख रहा हूं। अपने आविष्कारका फल अगली पीढ़ीके फैसलेके लिए मैं लिखकर छोड़ जा सकता था—वह विषय, जिसमें मैंने ज़िंदगीका बड़ा हिस्सा खपाया है, यदि किसी साधारण ज्ञानमात्रसे ही सम्बन्ध रखता होता तो शायद यह सम्भव था—पर यहां तो उस ज्ञानका बहुत बड़ा सम्बन्ध उसके द्वारा होनेवाले कर्मसे—ज्ञानको क्रियामें उतारनेसे—है।

इसलिए अपनी शिक्षाको जनसाधारणमें फैलाने, भावी पीढ़ीको उसका लाभ पहुंचाने और एक अनाड़ीकी उपाधि लेकर दुनियासे कूच न कर जानेके लिए, मैं अपने आवि-

ष्कारोंको रोगियोंपर आजमाकर साबित करना और उसे लोगोंको लगातार समझाते रहना अत्यन्त आवश्यक मानता हूं।

प्रकृतिका मैं सदासे भक्त रहा हूं। किशोरावस्थामें जंगलों और मैदानोंमें वनस्पति तथा प्राणियोंके विकासका अध्ययन करने और प्रकृतिके नियमों और रहस्योंको देखने-समझनेमें मुझे विशेष आनन्द मिलता था। इस सम्बन्धमें दूसरों द्वारा की गई खोजोंको जाननेकी भी मेरी इच्छा रहती थी। उस समय चिकित्सा-कार्यमें लगनेकी तो मनमें कल्पनातक भी न थी। भविष्यमें आवश्यकता और परिस्थितियोंके वश होकर ही मुझे इस ओर लगना पड़ा।

बीस सालकी उम्रमें ही मेरी तन्दुरुस्ती बिगड़ चली। छाती और सिरमें भयानक दर्द रहने लगा। आरम्भमें डाक्टरों-के यहां दोड़-धूप करनेपर भी कुछ बना नहीं। उनपर मेरा विश्वास भी नाममात्रको ही था, क्योंकि मेरी मां, जो वर्षों अपंग अवस्थामें भांति-भांतिकी बीमारियां भोगती रही थी, हम बच्चोंको बराबर समझाती रहती कि तुम लोग डाक्टरों-के फेरमें कभी मत पड़ना। अपनी सारी तकलीफोंकी जड़ वह डाक्टरोंको ठहराती थी। मेरे पिता भी, डाक्टरोंका इलाज कराते-कराते ही, पेटके कैंसरसे मरे थे।

सन् १८६४ की बात है। मैंने किसी समाचार-पत्रमें प्राकृतिक चिकित्साके अनुयायियोंकी एक बैठकका समाचार पढ़ा। मैं वहां गया। उस बैठकका दृश्य मेरे दिमागमें आज भी ताजा है। वहां उपस्थितोंमेंसे एकसे मैंने 'धीरेसे' अपने छातीके भयंकर दर्दका उपचार पूछा। 'धीरे-से', इसलिए कि आंतरिक पीड़ाके कारण बहुत लोगोंके बीच

बोलनेमें मुझे घबराहट होती थी। उक्त सज्जनने छातीपर कपड़ेकी गीली गद्दी रखनेकी सलाह दी। उससे मुझे कुछ तात्कालिक लाभ हुआ। फिर तो मैं बराबर इन बैठकोंमें जाने लगा।

सन् १८६८ में मेरे भाई बीमार पड़े। उस समय तक प्राकृतिक चिकित्सा अपनी बाल्यावस्थामें ही थी। अतः उससे अधिक आशा न होनेपर भी, थियोडोर हान द्वारा अनेक कठिन रोगियोंके चंगा किये जानेका समाचार सुनकर मेरे भाई उनके यहां गए और कुछ ही हफ्तोंमें अपने स्वास्थ्यमें काफी सुधार लेकर लौटे। यह सब देख-सुनकर मैं मन-ही-मन चिकित्साके प्राकृतिक उपायोंका समर्थक बनता जा रहा था। पर मेरी पीड़ाके घटनेके बजाय शरीरमें माता-पितासे मिले हुए बीमारीके बीज बढ़ ही रहे थे। विशेषतः, पहले किये गए डाक्टरी इलाजकी बदौलत पुराना रोग जोर पकड़ गया था। दशा असह्य हो चली थी। आमाशयमें पैतृक कैंसर प्रकट होगया था, फेफड़ोंका कुछ भाग नष्ट हो चुका था। मस्तिष्ककी नाड़ियोंमें ऐसा तनाव रहता था कि घरमें बैठना कठिन था। बाहर स्वच्छ हवामें निकलनेपर ही कुछ आराम मिलता था। सोने और काम करनेके लिए भी वैसी ही हवा अनुकूल पड़ती थी। पर यह सम्भव न था। बाहरसे दूसरोंके देखनेमें तो मैं मोटा-ताजा था, गालोंपर लाली थी, पर वास्तविक स्वास्थ्यकी दृष्टिसे अन्दरसे मैं खोखला हो रहा था।

उस समय प्राकृतिक चिकित्साके नामपर प्रचलित विधि-विधानोंका मैंने तन-मनसे पालन किया। स्नान, पट्टियां, एनिमा, सब विधियोंको मैंने अपने पर आजमाया। लेकिन बहुत कम राहत मिली। अब मैं स्वतन्त्ररूपसे प्राकृतिक

उपचारोंके तरीकोंके बारेमें सोचने लगा। आगे पाठकोंके सामने रखी जानेवाली विधियां और सिद्धांत उसी चिन्तन-के परिणाम हैं। पहले-पहल प्रयोगके रूपमें मैंने अपने पर ही उन विधियोंका प्रयोग करके सफलता प्राप्त की। मेरी दशा दिन-दिन सुधरती गई। मेरी सलाहके अनुसार इन्हें अपनानेवाले और लोगोंको भी फायदा हुआ। मेरे द्वारा प्रयोग-के लिए बनाये गए सामान भी पूरी तरह कारगर साबित हुए।

रोगोंका वास्तविक निदान और प्रकट लक्षणोंको देखकर भविष्यमें होनेवाले रोगोंके बारेमें—जिनके बारेमें व्यक्ति स्वयं ही बेखबर रहता है—बताई हुई मेरी विधि बराबर सही उतरी। इससे मेरा इस नतीजेपर पहुंचना स्वाभाविक ही था कि मेरे आविष्कार धोखेकी टट्टी अथवा आत्मप्रवंचना नहीं हैं। तथापि, चिकित्साके विशेषज्ञ कहे जानेवाले लोगोंने (डाक्टरोंने) तो मेरा मज़ाक ही उड़ाया। मेरी पूरी बात सुने-समझे बिना ही, उसे असम्भव कल्पना कहकर ठुकरा दिया। यह सिर्फ पेशेवर डाक्टर और दवाके हिमायतियोंने ही नहीं किया, बल्कि उस समयके प्राकृतिक चिकित्साके अनुयायी होनेका दम भरनेवालोंकी ओरसे भी मुझे प्रायः इसी प्रकारका व्यवहार मिला। लोगोंके लाभके खयालसे मैंने अपने सरंजाम (टब, भापका खटोला आदि) कुछ प्राकृतिक चिकित्सकोंको मुफ्त दिये, पर बिना प्रयोग किये ही, उन्होंने उन चीजोंको कूड़ेमें डाल दिया।

तब मैं इस परिणाम पर पहुंचा कि केवल रोगकी जड़का और उसके आराम करनेकी विधिका पता लगा

लेना, बीमारीकी चिकित्साके सामान तैयार कर देना, शरीरको बाहरसे ही देखकर उसकी वर्त्तमान और भविष्य-में होनेवाली बीमारियोंकी जांचका उपाय खोज निकालना और इस नई चिकित्साका प्रयोग केवल अपनेपर, कुटुम्बियोंपर और परिचितोंपर ही कर दिखाना काफी नहीं है। इतनेसे ही काम नहीं चल सकता। लोगोंको इस नई चिकित्साकी ओर खींचनेके लिए मुझे अपनी खोजोंका परिणाम सर्वसाधारणके सामने रखना होगा। साथ ही, एलोपैथी, होम्योपैथी तथा इसके पूर्व प्रचलित प्राकृतिक चिकित्साके प्रयोगोंसे अच्छे न हुए कठिन रोगियोंको बड़ी संख्यामें आराम करके बतलाना होगा। तभी प्राकृतिक चिकित्साके मौलिक नियमोंपर आधारित मेरी इस चिकित्साको सब लोग समझ सकेंगे।

ऐसा करनेकी मुझे बारंबार प्रेरणा होने लगी। हृदयमें एक द्वन्द्व-सा होने लगा। सोचता, मैं यदि चिकित्सामें सारा समय और शक्ति लगाता हूं तो मुझे अपना २४ साल से चलता-चलाता कारखाना छोड़ना पड़ता है और फिर कहीं यह चिकित्सा न चली तो मैं आर्थिक दृष्टिसे कहींका नहीं रह जाता। करूं या न करूं की उधेड़-बुनमें मैं सालों पड़ा रहा। अंतमें अन्तःप्रेरणाकी विजय हुई। १० अक्तूबर १८८३ को मैंने अपना चिकित्सालय खोल दिया। लेकिन शुरू-शुरूमें तो वही हुआ, जिसका मुझे डर था। कई साल तो ऐसे निकले कि मुश्किलसे कभी कोई चिकित्सालयमें आ जाता था, यद्यपि उस समय तक भी मुझे कुछ मरीजोंपर, लोगोंका ध्यान आकर्षित करने लायक अपूर्व सफलता मिल चुकी थी। फिर धीरे-धीरे रोगियोंकी संख्या

बढ़ने लगी। पहले तो कुछ लोग सिर्फ स्नान लेने, और बादको चिकित्साके लिए भी, आने लगे। दूसरे कस्बोंसे आनेवालोंकी संख्यामें वृद्धि हुई। मुझसे चिकित्सा लेकर गया हुआ करीब-करीब हर व्यक्ति इस चिकित्साका एक प्रचारक ही बन गया। निदानकी मेरी नई विधि यानी मुखाकृति विज्ञान और यह चिकित्सा-क्रम हजारोंके लिए वरदानरूप सिद्ध हुआ। मुखाकृति-विज्ञान-प्रणालीसे मैंने कितनोंको, उन्हें भविष्यमें होनेवाले रोगके सम्बन्धमें सचेत करके भारी खतरेसे बचाया।

हर रोगीकी चिकित्साके सिलसिलेमें मुझे अपने आविष्कारकी सत्यताका सबूत मिला है। पिछले आठ वर्षोंमें हजारों रोगियोंको देख और उनकी चिकित्सा करके मुझे बहुत अनुभव हुआ है। मेरा अपना अत्यन्त निराशाजनक स्वास्थ्य इन नई विधियों द्वारा इतना अच्छा हो गया है कि आज अपने इतने बड़े व्यवसायमें होनेवाले भारी श्रमको मैं आसानीसे बर्दाश्त कर लेता हूं। यह मेरे विशेष चिन्तनके फलस्वरूप आविष्कृत मेहनस्नानके कारण हुआ है। इसके प्रभावका अनुभव करके आज मैं दृढ़तापूर्वक कह सकता हूं कि **हर रोग, चाहे उसका कोई भी नाम क्यों न हो, जरूर-जरूर अच्छा हो सकता है, पर याद रखें कि मैं हर रोग कह रहा हूं,** हर रोगी नहीं, क्योंकि किसी शरीरका अन्दरसे बहुत क्षय हो जानेपर, विशेषतः दीर्घकाल तक जहरीली दवाओंका उपयोग करते-करते, अवयवोंके अशक्त हो जाने और उन दवाओंके विषको निकालनेकी उनकी शक्ति बिल्कुल क्षीण हो जाने-पर तो, मेरी विधियोंसे रोगीका कष्ट कम ही किया जा सकता

है, उसे पूर्ण रूपसे निरोग नहीं किया जा सकता।

मुझे यह कहते अत्यन्त प्रसन्नता और एक प्रकारसे गर्व-का भी अनुभव होता है कि २५साल तक शारीरिक कष्ट भोगनेके बाद अपने-आपको बचानेके साथ-साथ मैंने जनताके हितके लिए रोगका सच्चा इलाज पा लिया। मेरे इस कथनमें किसीको आत्मप्रशंसा या आत्माभिमानकी गंध आ सकती है, लेकिन प्रत्येक रोगीपर हुए अनुभवके बलपर मैं इस नतीजेपर पहुंचा हूं कि इस तरीकेसे भले ही कोई रोगी बचाया न जा सके तथापि मेरे सिद्धांतके सोलह आने सही होनेमें कोई संशय नहीं है।

मेरे आविष्कारोंका प्रधान आधार प्रत्यक्ष दर्शन है। भली-भांति निरीक्षण, अनुसन्धान और विधिवत् परीक्षणोंके उपरान्त ही मैं इन परिणामों पर पहुंचा हूं। मुझपर नीम हकीम होने-का इलजाम लगाया जा सकता है, चिकित्सा-व्यवसायके लिए मेरे पास किसी विश्व-विद्यालयकी कोई डिग्री न होनेकी बात भी कही जा सकती है। इस आक्षेपको चुपचाप सहने-के बाद मैं उन आक्षेपकोंसे पूछना चाहूंगा कि संसारका महान् हित करनेवाले आविष्कारकोंमें कब किसने किसी विद्यालय-से सनद हासिल की थी?

एलोपैथी, होम्योपैथी तथा आरम्भिक प्राकृतिक चिकित्सा

लोकहितकी दृष्टि एवं अपने विषयको अधिक स्पष्ट करनेके खयालसे मैं उपर्युक्त पद्धतियोंकी त्रुटियोंका दिग्दर्शन कराना अपना कर्त्तव्य समझता हूं। हर आदमी अपनी पसन्दकी ही चिकित्सा अपनानेको स्वतन्त्र है, पर मेरे सिद्धान्तको सही-सही समझनेके लिए यह जानना जरूरी है कि अन्य पद्धतियोंके

सिद्धान्त मेरे तरीकोंसे कहां मेल खाते हैं और कहां खिलाफ पड़ते हैं।

एलोपैथी—मेरी बिना दवा और बिना चीर-फाड़की चिकित्साके साथ एलोपैथीका (डाक्टरीका) सिर्फ इतना ही मेल है कि विषय दोनोंका एक—यानी शरीर—है, बाकी दोनोंमें उत्तर-दक्षिणका फर्क है—बिल्कुल ३६ का सम्बन्ध है। सच पूछिए तो रोगियोंके शरीरोंमें दवाएं ठूंस-ठूंसकर उन्हें विषाक्त करनेवाली इस समय बढ़ रही इस पद्धति को,आज कोई पूर्ण स्वस्थ मनुष्य मुश्किलसे पानेका, एकमात्र नहीं तो खास कारण मैं जरूर मानता हूं। इसीके कारण जीर्ण रोगोंकी बाढ़-सी आ रही है।

मेरी इस नई चिकित्साके प्रचार पा जानेपर चीर-फाड़ तो लगभग व्यर्थ ही हो जायगी।

होम्योपैथी—दवावादकी जड़पर कुठाराघात करनेवाले एक वीर सहयोगीके रूपमें यह स्वागत-योग्य है। इसमें दवाकी मात्रा इतनी कम रहती है कि बहुत ढूंढ़नेपर भी दवा नामकी कोई चीज़ इसमें मुश्किलसे ही मिलेगी। उचित भोजनपर भी इसका जोर रहता है। एक प्रकारसे इस नई चिकित्साकी ओर यह एक पग बढ़ती है। तथापि, इसमें भोजनके कोई स्थिर सिद्धान्त नहीं हैं। मेरा अनुभव यह भी बतलाता है कि इसकी औषधिकी अत्यल्प मात्रा भी, सम्पूर्ण रूपसे हानिरहित तो नहीं है।

आरम्भिक प्राकृतिक चिकित्सा—अन्य सब विधियोंसे श्रेष्ठ और मेरी इस नवीन चिकित्साकी—बिना दवा और बिना चीर-फाड़की चिकित्साकी—बुनियाद तो यही है। इस

पद्धतिके वर्तमान पुरोहितोंकी अपेक्षा इसके महान् आविष्कारकों जैसे प्रिसनीज़, स्क्राथ, रस्से और थियोडोर हानके कदमों पर चलना मुझे अधिक उचित जान पड़ता है। इसके वर्तमान प्रतिनिधि तो अपनी डेढ़ चावलकी खिचड़ी अलग ही पकानेकी धुनमें कुदरतके सीधे रास्तेसे दूर जा पड़े हैं। आरम्भिक प्राकृतिक चिकित्सामें, शरीरमें **दोष-संचयका रूप और उसकी प्रकृतिके** ज्ञानका अभाव था तथा कुदरतके उन नियमोंके ज्ञानका भी अभाव था कि जिनके अनुसार यह **दोष शरीरमें प्रकुपित होकर विशेष भागोंमें** प्रसरित होता है। दूसरे शब्दोंमें, इसे सामान्यतः रोगकी वास्तविक प्रकृतिका तात्त्विक, विशेषतः रोगके विविध रूपोंके कारणका ज्ञान नहीं था, अथवा यों कहें कि शाश्वत प्राकृतिक नियमका ज्ञान नहीं था। पर मेरा तो सारा-का-सारा आविष्कार उसीपर निर्भर करता है। इसके सिवा, ये लोग निदानमें डाक्टरी पद्धतिकी सहायता लेते हैं। पर प्राकृतिक चिकित्सा-पद्धतिमें इतने लम्बे-चौड़े निदानकी बिल्कुल आवश्यकता नहीं है। यह तो निदानकी एक बिल्कुल भिन्न पद्धति—स्वयं रोगकी प्रकृतिका अनुसरण करनेवाली पद्धति—सामने रखती है।

आरम्भिक कुदरती उपचारक जलप्रयोगके अनेक प्रकार, जैसे, पट्टियां, एनिमा, फुहारेका नहान, अर्ध नहान, पूरे नहान और भांति-भांतिके स्टीम-बाथ काममें लाते हैं। पर एक बार रोगकी सही दिशा समझ लेने पर—तत्त्वदृष्टि मिल जानेपर—अनेक उपचार अंशतः व्यर्थ जान पड़ने लगते हैं।

पुरानी प्राकृतिक चिकित्सा पद्धतिमें भोजन प्रायः अव्यवस्थित रहता है। मनमानी तौरपर रूढ़िके अनुसार, वह मिश्र

रूपका (mixed diet) रखा जाता है। पर मेरी नई चिकित्सा अनुत्तेजक आहारकी, प्राकृतिक नियमोंके अनुकूल एक स्पष्ट और सही विधि बतलाती है।

स्वास्थ्य और आकृति

इस सम्बन्धमें प्रचलित धारणाओंमें बहुत भिन्नता है। एक कहता है, मैं और तो बिल्कुल तन्दुरुस्त हूं, सिर्फ जरा गठियाकी शिकायत है, दूसरा नाड़ी-दौर्बल्यके सिवा बाकी सब ठीक बतलाता है। मानों, यह शरीर एक न होकर अलग-अलग हिस्सोंमें बंटा हुआ हो और उनका परस्पर कोई नाता-रिश्ता ही न हो! एलोपैंथी (डाक्टरी) चिकित्सा तो इस धारणाको पोषण देती है। इसमें प्रायः अंग-विशेषका इलाज किया जाता है, दूसरे पड़ोसी अंगका कोई फिक्र ही नहीं किया जाता। वास्तवमें तो हमारा समूचा शरीर पूर्ण इकाई है, उसका प्रत्येक भाग दूसरे भागसे घनिष्ठ रूपसे सम्बन्धित है। किसी एक हिस्सेकी पीड़ा दूसरे हिस्सेपर जरूर असर डालती है। पीड़ाका एक प्रधान स्थल अवश्य होता है, जिसके अनुसार रोगका नाम रखा जाता है। पर, उस पीड़ाका कम-ज्यादा प्रभाव शरीरके सभी भागोंपर होता है। यह तो नित्य देखा जाता है कि किसीके दांतमें जोरका दर्द होता है तो उससे खाया नहीं जाता, न बोला जाता है। इतना ही नहीं, उससे दूसरे काम भी नहीं बन पड़ते—कोई काम करना नहीं सुहाता। एक कानी अंगुलीमें जरा-सी फांस लग जानेपर समूचे शरीरपर उसका असर होता है। पेटमें पैदा हुआ दर्द हमारी सारी शारीरिक और मानसिक काम करनेवाली शक्तियोंको हर लेता है। एक स्थलकी प्रधान

पीड़ा नाड़ी-मंडलके द्वारा सारे शरीरमें व्याप्त हो जाती है। कौन नहीं जानता कि एक कष्ट धीरे-धीरे दूसरे कष्ट कैसे पैदा कर देता है। किसी भी स्थायी कष्टका सारे शरीर पर असर पड़ता है। शरीर स्वस्थ तभी कहला सकता है जब उसके अंग-प्रत्यंग स्वाभाविक दशामें हों और बिना किसी कष्ट-खिंचाव अथवा दबावके अपना काम पूरा करते हों। साथ ही, सब अंग अपने कार्यके अनुरूप अनुपातमें हों। अंगोंका यह अनुपात हमारी सुन्दरताका सबसे बड़ा मापदण्ड होना चाहिए। बाह्य आकृति का अस्वाभाविक—असंगत होना किसी भीतरी विकारका सबूत है। लेकिन किसी भी व्यक्तिकी यथार्थ स्वाभाविक आकृति निश्चित करनेमें बड़े निरीक्षणकी आवश्यकता होती है। तुलनात्मक अध्ययनके लिए पहले हमारे सामने वास्तविक स्वस्थ पुरुषका होना आवश्यक है कि जिससे हम स्वस्थ आकृतिका अन्दाज कर सकें। लेकिन आज ऐसे पुरुषका पाना भी असम्भव-सा ही प्रतीत होता है। उदाहरणके लिए तन्दुरुस्तीका दावा करनेवाले पहलवानोंको ही लें। जांच करनेपर उनमेंसे हरेकके स्वास्थ्यमें कोई-न-कोई खराबी मिलेगी। कोई जब-तब सिर भारी होनेकी शिकायत करता पाया जायगा, कोई दांतोंकी तकलीफका रोना रोता होगा, कोई कभी-कभी पेटमें दर्द लिये बैठा होगा। इन्हें स्वस्थ कहना स्वास्थ्यकी परिभाषाके सम्बन्धमें अपना अज्ञान प्रकट करना है। मनुष्यकी स्वाभाविक आकृति जाननेके लिए सूक्ष्म और गम्भीर अध्ययनकी आवश्यकता है। रोगी मनुष्यों-से तुलनाके लिए सामान्य रूपसे स्वस्थ समझे जानेवाले व्यक्तियों-को लिया जा सकता है।

सब जानते हैं कि रोग शरीरकी आकृतिमें परिवर्तन कर देता है। एक तरफ मोटापेसे पीड़ित गोल-मटोल शरीर, दूसरी ओर एकदम दुबला-पतला, दोनों आकृतियां ही मनुष्यकी रुग्ण स्थितिका परिचय देती हैं। इसके सिवा, पूरे चेहरेपर पड़े हुए गड्ढे, दांतोंका अभाव, त्वचाका फीकापन, पीलापन, जगह-जगह जोड़ोंमें शोथ ला देनेवाली गठिया आदि दशाओंमें पड़नेवाले साफ फर्कको साधारण-से-साधारण आदमी भी पकड़ सकता है। हां, कुछ दशाओंमें फर्क ऐसी स्पष्टतासे प्रकट नहीं भी होता।

निरोग आकृतिके कुछ चिन्ह हैं, जैसे नेत्र निर्मल और शांत, अविकृत—टेढ़-बांक रहित—आकृति, सर्वत्र समानता।

पर चेहरेसे यथार्थ निर्णय करना सबके लिए कठिन होता है। कुछकी तीक्ष्ण दृष्टि इन खामियोंको शीघ्र पकड़ती है। ऐसी दृष्टिके लिए बड़ा धैर्य, निरन्तर अभ्यास और सूक्ष्म निरीक्षण-वृत्तिकी आवश्यकता होती है।

किसी व्यक्तिके नित्य सामने रहनेपर रोगके कारण उसकी आकृतिमें धीरे-धीरे पड़नेवाले फर्कका पता हमें नहीं चलता, पर बीमारी भोगनेवाले आदमीको बहुत दिनों बाद देखनेपर उसकी शक्लमें हमें बड़ा परिवर्तन मालूम होता है। हम यकायक कह उठते हैं, अरे, यह क्या हाल हो गया, सूरत कैसी हो गई, चेहरेमें कितना फर्क पड़ गया! यह फर्क रोगके कारण ही पड़ता है या कहें चेहरेके द्वारा रोग प्रकट होता है। सिर और गर्दनको देखकर इन परिवर्तनोंको पहचाना जा सकता है।

स्वास्थ्यकी दूसरी कसौटी

हर रोगमें समूचा शरीर परिवर्तित होता है। किसी भी अंगके कार्यसे इसकी जांच की जा सकती है, पर इसके लिए सबसे अच्छा अंग उदर—पेड़ू समझा जाता है। स्वस्थताकी निशानी अच्छा पाचन है। मेदेके अपना काम नियमित—ठीक पूरा करते रहनेपर शरीरके स्वस्थ होनेमें संदेह नहीं रहता।

मनुष्यके मलको देखकर यह परीक्षा की जा सकती है। मल गुदाद्वारको गंदा किये बिना, यानी वहां लगे-लिपटे बिना, निकल जाना चाहिए। जंगली जीवोंमें यही पाया जाता है। प्रकृतिने गुदाद्वारकी रचना ऐसी कुशलतासे की है कि सही शक्लमें आया हुआ मल बिना किसी दिक्कतके और द्वारको गंदा किये बिना निकल जाता है।[1] इस शक्लमें मल आनेवाले व्यक्तिको मेरी दृष्टिसे भाग्यशाली और स्वस्थ मानना चाहिए।

स्वस्थ मनुष्य कोई दर्द या बेचनी नहीं जानता। आगन्तुक कारणोंसे, आघात आदिसे कोई कष्ट होना अलग बात है। वास्तवमें, उसे शरीरके होनेका भान नहीं होता। उसे काममें आनन्द आता है, थकनेतक वह मौजसे काम किये जाता है। कामके बाद विश्राम भी उसके लिए अति आनन्द-दायक होता है। वह मानसिक श्रमसे भी घबराता नहीं है। कोई दुःख आ पड़नेपर आंसुओं द्वारा वह उसे बाहर निकाल देता है। रोकर हल्का होना हमारे लिए लज्जास्पद नहीं है।

---

[1] कूनेको एक हद तक सही मानते हुए भी, कुछ विद्वानोंने बताया है कि यह बहुत-कुछ भोजनकी स्थितिपर निर्भर करता है। यदि अन्य लक्षणोंसे कोई स्वस्थ है तो सिर्फ इस एक लक्षणके न मिलने-से उसे मनमें यह शंका न रखनी चाहिए कि वह अस्वस्थ है।

स्वस्थ मनुष्य अपनी कौटुम्बिक जिम्मेदारियोंको भलीभांति निबाहता है। वह कुटुम्बके पालन-पोषणकी पूर्ण शक्ति रखता है, कुटुम्ब-पालनकी चिन्ता उसे परेशान नहीं करती ।

स्वस्थ माता अपने बच्चोंके पालन-पोषणमें आनन्द अनुभव करती है। वह अपने बच्चेको प्राकृतिक रूपसे अपने दूधपर पाल सकती है।

यदि सन्तान भी स्वस्थ हो तो माताके सुखका क्या पूछना है? ऐसे बच्चोंके चेहरेपर हमेशा मुस्कराहट विराजती है। वे हर घड़ीके लड़ाई-झगड़े, शिकायत, बकझकसे मुक्त होते हैं। स्वस्थ बच्चे सुशील होते हैं। संक्षेपमें, ऐसे बच्चोंको शिक्षा देनेमें अध्यापक भी प्रसन्नताका अनुभव करता है।

: २ :

रोगकी उत्पत्ति

सिद्धान्त और व्यवहार दोनों दृष्टियोंसे इस प्रश्नका उत्तर मिलना चाहिए कि रोगकी उत्पत्ति किस प्रकार होती है ? रोगका वास्तविक कारण जाने बिना उसका उपचार भी क्या और कैसे होगा ?

सारे प्राकृतिक नियमोंके आविष्कारके चार मार्ग हैं—१. ध्यानपूर्वक देखना २. अनुमान ३. कुछ अनुभव और ४. अन्तमें उन्हें प्रयोग द्वारा सिद्ध करना।

सर्वप्रथम हमारी दृष्टि रोगी मनुष्यमें प्रकट होनेवाले सारे लक्षणोंपर जानी चाहिए, फिर, उन लक्षणोंपर, जो निरन्तर आते-जाते रहते हैं और प्रत्येक रोगीमें होते हैं। रोगोंका स्वरूप जांचनेमें ये लक्षण ही सर्वाधिक आवश्यक हैं।

रोगोंसे शरीरकी आकृतिमें अद्भुत परिवर्तन होते देखकर मुझे इस बातपर अधिक ध्यान देना पड़ा कि क्या ऐसा परिवर्तन सभी रोगियोंमें होता है ? मैंने बराबर देखा कि सबमें यह होता है। चेहरे और गर्दन इन दो अंगोंपर इन परिवर्तनोंका विशेष प्रभाव होता है। वहां यह आसानीसे देखा जा सकता है।

मैं अपनी स्वतन्त्र जांचमें वर्षों देखता रहा कि बाह्य आकृतिके अन्तरके साथ-साथ क्या स्वास्थ्यकी दशामें भी अन्तर पड़ता है ? इन दीर्घ निरीक्षणोंके परिणामस्वरूप मुझे दृढ़ विश्वास हो गया है कि प्रत्येक स्वस्थ शरीरकी एक

विशेष आकृति होनी चाहिए और इसमें फर्क पड़ना रोगोंका परिणाम है। **गर्दन तथा चेहरेकी आकृतिमें परिवर्तन देखकर व्यक्तिके स्वास्थ्यका सही अनुमान लगाया जा सकता है।** मैं अपनी इस विधिको 'मुखाकृति निदान' कहता हूं। पन्द्रह साल से भी अधिक समयसे मैं इसके अनुसार बरत रहा हूं।

गर्दन और चेहरेमें पाये जानेवाले परिवर्तन, पेड़ू और पुट्ठों के आस-पासके हिस्सोंमें विशेष रूपसे प्रकट होते हैं। कारण, उनकी उत्पत्तिका प्रथम स्थान तो पेड़ू ही है। रोगीकी सिर्फ गर्दन और चेहरा देखकर उसके समूचे शरीरकी दशाका पूरा अंदाज किया जा सकता है। इन दोनों स्थानोंमें प्रकट होनेके पूर्व दोष पेशीसे सम्बन्धित मांस-तन्तुओंमें एकत्र होता है। यह पहली दशा उतनी खतरनाक नहीं होती, दूसरी दशा बढ़ते हुए दबावकी होती है। एक रबरके खाली गुब्बारे-को चाहे जिस तरह मोड़ा जा सकता है, पर उसमें हवा या पानी भर देनेपर वैसा नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार भीतरके तंतुओंमें दोष जमा होनेपर शरीर एक सीमातक ही फैल सकता है। दोष-संचयसे पैदा होनेवाले इस दबावको शरीर-की बाहरी दशासे परखा जा सकता है। जब मांस-तन्तुओंका सारा क्षेत्र विकारसे परिपूर्ण हो जाता है, अधिक दोष-संचयकी गुंजाइश नहीं रह जाती, तब वह दोष पिण्डरूपमें, त्वचाके नीचे, पेशीय मांस-तंतुओंके निकट जमा होता है। गर्दन उसका अच्छा दर्पण है। सिर और गर्दनमें ऐसे पिण्ड पाये जानेपर यह निश्चय करना कठिन नहीं होता कि धड़से सम्बन्धित भागमें भी ऐसे पिण्ड अधिक परिमाणमें संचित हैं।

पेड़ू के ऊपरी हिस्सेमें, नाभिके चारों ओर, अंगुलियोंसे

टटोलकर ऐसे पिण्डों को देखा जा सकता है। पहले यहां जमा होनेके बाद ही गर्दनमें पिण्ड बनते हैं। अबतक किसीने इन पिण्डोंके रूप और इनकी उत्पत्तिका स्पष्ट विवेचन नहीं किया। दुबले रोगियोंमें हम शरीरके स्वाभाविक मांस-तंतुओंको यथास्थान नहीं पाते—सिकुड़े हुए रूपमें पाते हैं।

त्वचाके विभिन्न अस्वाभाविक वर्ण-परिवर्तनको देखकर भी रोगीकी दशा जाननेमें कुछ सहायता मिलती है। नीचे एक ही व्यक्तिके दो चित्र दिये गए हैं। इसे हृदय रोग और जलोदर था। पहला चित्र इलाज शुरू करनेके पहलेका है, दूसरा, इलाज-में चार महीने रहनेके बादका। परिवर्तन स्पष्ट है। पहले शरीर

दोषसे लदा हुआ था, चार महीनेके उपचारमें प्रकृतिने स्वाभाविक मार्गोंसे उसका बहुत-कुछ दोष निकाल दिया था।

शरीरमें कहीं शोथ या फुलावट, वहां किसी पदार्थके संचित होनेका परिणाम है। यह पदार्थ शरीरके लिए कुछ उपयोगी है अथवा सिर्फ़ गलत जगहपर अनावश्यक रूपसे जमा हो गया है, इसे आदमी शुरूमें नहीं जान पाता, न उसे यही पता होता है कि यह वस्तु रोगका कारण होती है या रोग-

के कारण जमा होती है। लेकिन अधिक ध्यान देनेसे मालूम हो सकता है कि यह बेकार वस्तु है। इसीको हम दोष कहते हैं। ऐसा संचय सदैव शरीरके एक भागमें होता है—एक ओर उसकी मात्रा अधिक होती है। मनुष्यकी जिस करवट सोने-की आदत होती है, गुरुत्वाकर्षणके नियमानुसार वह संचय-उधर ही झुक जाता है। उस हिस्सेके रोगी होनेके प्रमाणसे कह सकते हैं कि वह दोष-संचय रोगका कारण है, अन्यथा रोग कभी-कभी दूसरी ओर भी आरम्भ होना चाहिए, पर वह होता है सदा दोष-संचयकी दिशामें ही।

इससे हमारे इस परिणामपर पहुंचनेमें कोई बाधा नहीं आती कि इस वस्तुका शरीरके पोषणसे कोई सम्बन्ध नहीं है। यह दूषित वस्तु शरीरकी शक्ति बढ़ानेमें कोई मदद नहीं करती। खुराकके परिणामस्वरूप स्वस्थ मनुष्योंके शरीरोंमें भी गुरुत्वाकर्षणका नियम काम करे तो उनमें भी सिर्फ एक ओर शोथ होनी चाहिए, पर ऐसा कभी नहीं होता। इससे यह सिद्ध होता है कि शोथ—फुलावट तो दोष-संचयका परिणाम ही है।

इसके सिवा, शरीर इस द्रव्यको बाहर निकालनेकी बराबर कोशिश भी करता दिखाई देता है। अधिक पसीनेके रूपमें, फोड़े या नासूरसे अथवा सारी त्वचापर अनेक प्रकारकी फुन्सियों द्वारा तथा भिन्न-भिन्न प्रकारसे शरीर भीतरी दूषित पदार्थोंको निकालनेका प्रयत्न करता है। उसे निकाल पानेपर—अर्थात् गंदगीके बाहर हो जानेपर बीमारको आराम मालूम होता है।

दोष-संचय ही रोग है

अब हम रोगकी इस परिभाषापर पहुंच गये कि शरीरमें दोष—विजातीय द्रव्य—संचय ही रोग है। **इस परिभाषाकी सच्चाईकी एक अचूक परीक्षा यह है कि दोषको उचित प्रकारसे निकाल देनेपर रोग अपने-आप चला जाता है। साथ ही, शरीर अपनी स्वाभाविक आकृति पर आ जाता है। हमारी परिभाषाकी सत्यताका यह सबसे बड़ा प्रमाण है।**

दोषका स्वरूप और शरीरमें इसका प्रवेश-मार्ग

शरीरमें किसी पदार्थके प्रवेश पानेके दो मार्ग हैं—१. नाकसे पदार्थका फेफड़ोंमें जाना २. मुंहसे पेटमें जाना। हमारे इन दोनों दरवाजोंपर रखवाले हैं। नाक (घ्राणेन्द्रिय) और जिह्वा (रसनेन्द्रिय), दोनों ही भोजनकी जांचके लिए नियुक्त हैं। पर गंध और स्वादमें हमारे विवेकहीन हो जाने पर ये दोनों अंग अपने कर्त्तव्य-पालनमें शिथिल हो जाते हैं। तब धीरे-धीरे बिना किसी रोक-टोकके ये हानिकर पदार्थोंको भीतर जाने देते हैं। इसका एक खासा प्रमाण है कि एक व्यक्तिको तम्बाकूके धुएंसे भरे स्थानमें हम मजेसे सांस लेते देखते हैं—मानों वह ताजी हवा पी रहा हो! ज़बान तो इससे भी ज्यादा धोखा देने लगती है और ऐसी अप्राकृतिक खुराककी अभ्यासी बन जाती है कि देखकर आश्चर्य होता है। आज, भोजनमें निकले हुए उन प्रकारोंका, जिन्हें अनिवार्य माना जाने लगा है, कुछ सदियों पहले कहां पता था? ये हमारी जीभका स्वाद बिगड़नेके परिणामस्वरूप ही निकले हैं। आजकी

पीढ़ीको रोगसे मरना कबूल है, लेकिन स्वाद छोड़ना नहीं। साधारण रोटी, दलिया, तरकारी, जिसे खाकर हमारे पुरखे पूर्ण सशक्त और स्वस्थ रहते थे, आज हमारे लिए रुचिकर नहीं रह गये।

हमारे फेफड़ोंकी खुराक—हवाकी हालत इतनी नहीं बिगड़ी है, जितनी पेटकी खुराककी। आज भी शुद्ध वायु हमें अच्छी लगती है।

पाचन-प्रणालीपर अन्याय

इसे एक उदाहरणसे समझें। मानिए कि दो मन बोझ ढो सकनेकी शक्तिवाले एक घोड़ेसे चाबुकके बल पर कुछ दिनों तक तीन मन बोझ ढुलाया गया, पर यह देखकर कि घोड़ा तीन मन ढो सकता है, मालिक उसपर रोज उतना ही लादने लगे, तो जानवरके कुछ दिनों तक यह अधिक बोझ ढोते रहनेपर भी, वह उसके बुरे प्रभावसे बच नहीं पायेगा और अन्तमें यह अधिक बोझ घोड़ेकी कमर झुका देगा। वह प्रतिदिन कमजोर होता जायगा और कुछ समय बाद वह पहलेवाला दो मन भी न ढो सकेगा। चलनेमें उसके पैर सटने लगेंगे। मनुष्यकी पाचन-प्रणालीकी भी ठीक वही दशा है। चूरन, चटनी और अन्य पाचकोंके सहारे कुछ समय तक उसमें अधिक काम करनेकी शक्ति रह सकती है, पर उसकी स्वाभाविक शक्ति शनैः-शनैः क्षीण होती जायगी और फिर वह अपने काममें हीला-हवाला करने लगेगी। मनुष्य स्वस्थ दशासे रुग्णताकी ओर इतना धीरे-धीरे बढ़ता है कि वह बहुत दिनों तक उस अंतरको जान ही नहीं पाता। कभी-कभी तो इसमें

दस-बीस साल या इससे भी अधिक समय लग जाता है।

यह कहना बहुत कठिन है कि एक रोगी मेदेको कितनी खुराककी जरूरत होती है। उदाहरणार्थ, जिसका बिगड़ा हुआ मेदा एक ही सेव पचा सकता है, दो उसके लिए बहुत ज्यादा होंगे। ऐसी अधिकता शरीरके लिए विषका काम करती है। पेटमें गई हुई खुराक न पचनेकी दशामें बेकार ही नहीं, बल्कि हानिकारक होती है। स्वस्थ मेदा भी मर्यादित खुराक ही पचा सकता है, अधिक उसके लिए भी जहर है। मिताहार ही स्वास्थ्य-रक्षाकी बुनियाद है। पेटमें गई हुई अधिक खुराक शरीरमेंसे निकल न जानेकी दशामें दोष-रूपमें परिणत होती है।

मनुष्यका शरीर अपने मल-द्वारों द्वारा इस दोषको निकालनेमें लगा रहता है। फेफड़ों द्वारा वह ऊपरसे सांसके रूपमें निकाला जाता है, आंतों द्वारा नीचेसे मलके रूपमें बाहर निकाला जाता है, और रक्तमें प्रवेश करने के बाद त्वचा, गुर्दे, पसीने पेशाबके साथ निकल जाता है।

इस प्रकार हमारे द्वारा की गई गलतियोंसे रक्षाकी शरीर-में बड़ी सुन्दर व्यवस्था रखी गई है। हमें चाहिए कि अधिक बोझ डालकर उसे अशक्त न बनायें। आवश्यकतासे अधिक भार डालनेपर आतें कमजोर हो जाने पर शरीरसे दोषको निकाल नहीं पातीं। उस दशामें शरीरमें दोष-संचय होने लगता है। यह संचय रक्त-संचालनमें बाधक होता है; पाचन-क्रिया-में भी। शनैः-शनैः दोष-संचयके अनेक स्थल हो जाते हैं। निष्कासन-मार्गोंके समीप दोष-संचय विशेष रूपसे होता है, क्योंकि उसकी उधर ही प्रवृत्ति होती है।

संचयकी वृद्धि

एक बार दोष-संचय आरम्भ हो जानेकी दशामें खान-पान आदिमें तत्काल परिवर्तन न करनेपर वह तेजीसे बढ़ता है और तब शरीरकी आकृतिमें अन्तर पड़ना आरम्भ हो जाता है। इस प्रारम्भिक दशाको अभ्यासी आंखें ही समझ सकती हैं। यह रोगका सुप्तकाल होता है। इस दशामें वह कोई तकलीफ नहीं देता। वृद्धिकी गति भी इतनी धीमी होती है कि मनुष्यको स्वयं उसका पता नहीं चलता। काफी दिनों बाद ही उसे अपनी दशामें फर्क मालूम होता है। भूख नहीं लगती, शरीरसे पहलेके समान मेहनत नहीं कर पाता, मानसिक श्रम भी उतना नहीं कर पाता। इसी प्रकारके और कई लक्षण प्रकट होते हैं। फिर भी, जबतक निष्कासन अंग—आंतें, गुर्दे, फेफड़े और त्वचा—सक्रिय रहते हैं, किसी तरह काम चलता रहता है। पर इन क्रियाओंमें शिथिलता आते ही मनुष्यको बेचैनी होने लगती है।

दोष-संचय निष्कासन मार्गोंके समीप आरम्भ होकर शीघ्र ही अंतर्भागोंमें बढ़ने लगता है। विशेषतः शरीरके ऊपरी हिस्सोंकी ओर बढ़ता है। गर्दनपर दोषके ऊपर जानेके चिह्न दिखाई देते हैं। उसकी गतिकी दिशाका ज्ञान भी वहांसे हो सकता है। लेकिन आज आरम्भसे रोगके सम्पूर्ण विकासकी जांच करना कठिन काम है, क्योंकि प्रायः मनुष्य जन्मसे दोष-संचय लिये हुए ही पैदा होते हैं। इसीलिए मुश्किलसे कोई बच्चा मिलेगा जो बाल-रोगों से सुरक्षित हो। बाल-रोग प्रकृतिकी एक प्रकारकी शोधन-विधि है। इसके द्वारा शरीर अपने-आपको दोष-मुक्त करनेका यत्न करता है।

पहले पेड़ूमें जमा होकर शरीरके अन्य भागोंमें फैला हुआ दोष अंगोंके स्वाभाविक विकासमें बाधक होता है। दोषकी विद्यमानतामें पोषक द्रव्यके लिए स्थान नहीं रह जाता। रक्त-संचालन ठीक न होनेके कारण खुराकका उचित अभिशोषण और सात्मीकरण नहीं होता। दोष-संचयके कारण अंग ठिगने रह जाते हैं। दीर्घकाल तक निश्चेष्ट अवस्थामें रहनेके बाद मौका पाकर दोषका रूप बदलने लगता है। दोषके अधिकांश घटक, घुलनशील और विघटन-प्रिय होते हैं। अवसर पाते ही ये उपादान प्रकुपित हो जाते हैं।

ऐसे सब प्रकोपोंमें अत्यन्त सूक्ष्म जीवाणु विद्यमान रहते हैं। प्रकुपित पदार्थमें एक विशेष परिवर्तन हो जाता है और परिमाणमें वह अधिक प्रतीत होता है।

प्रकोपकी—खमीर उठनेकी— हालतमें हमेशा गरमी पैदा होती है। इस क्रियाकी तीव्रताके अनुसार शरीरका ताप बढ़ता है। यह ताप पोषक उपादान कणोंके परस्पर तथा शरीरसे संघर्षित होनेके कारण पैदा होता है।

प्रकोपको उचित दशाओंमें, अपने उद्गम स्थानोंपर लौटाया जा सकता है। अबतक इस तत्त्वको भलीभांति समझा नहीं गया है। सब जानते हैं कि कैसे बरफ गलकर जलरूप हो जाती है और फिर कैसे अधिक गरमी और वायु-के संयोगसे जलसे भाप बन जाती है और फिर यह अदृश्य भाप कैसे स्थूल होकर आंखोंके सामने बादल बनकर आती है और बूंदोंकी शक्लमें गिरती है, नदी तथा झरनोंको भरती है और प्रबल ठंडक पाकर फिर बरफ-की-बरफ बन जाती है। यह सारा खेल केवल तापमानके अंतरसे ही होता है। लगातार

गरमी बढ़नेसे बरफ जलकी दशामें आ गई और फिर ठंडक वढ़ते ही वह क्रिया उलट गई। यही सिद्धान्त विजातीयउपादानोंके दोष-संचयके रूप-परिवर्तनमें भी काम करता है और इसी सिद्धान्तके अनुसार उन्हें पूर्व रूपमें लाकर शरीरसे बाहर किया जा सकता है ।

दोषका प्रकोप

दोष-संचयकी अवस्थामें अनुकूल दशा, काल प्राप्त होनेपर ही प्रकोप होता है !

प्रकोपके मुख्य कारण

१. ऋतु-परिवर्तन—अधिक सर्दी या अधिक गर्मी ।
२. आंतोंमें देरतक रुकनेवाली—दुष्पाच्य-खुराक ।
३. क्रोध,भय,तीव्र मानसिक आवेग या मनपर कोई आघात ।

प्रकोपकी क्रिया आमाशयमें आरम्भ होती है । अक्सर तो यह कवल अतिसार पैदाकरके शान्त हो जाती है । पर बहुत बार, खासकर कब्जकी दशामें, जब आंतें मलको बाहर निकालनेमें समर्थ नहीं होतीतो प्रकोप विशेष रूपसे अन्य दोष-संचित भागोंमें जारी रहता है ।

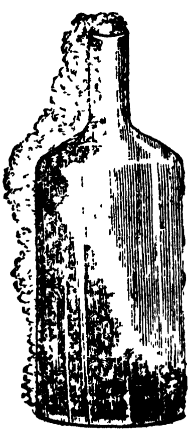

समझनेके लिए हम एक सिरकेसे भरी बोतल लें । अगर हम इसे धूपमें रख दें तो सिरकेमें खमीर पैदा होने पर, इसके पेंदेमें कोई सूराख न होनेके कारण, उफननेवाली सामग्री बोतलके मुह की ओर जायगी । इसी प्रकार हमारे अन्दर प्रकोप होने पर,

शरीरके ऊपरी हिस्सोंमें उसका असर मालूम होता है। सबसे पहले सिर भारी मालूम होने लगता है। प्रकोपमें गरमी पैदा होती है, परिणामस्वरूप, तत्काल ही हमें खूनका तापमान बढ़ा मालूम होता है। इसीको हम बुखार कहते हैं। बुखार शरीर में दोष-संचयकी दशामें ही आ सकता है, और वह भी तब जबकि स्वाभाविक रास्ते बन्द हों, यानी १. जब आंतें नियम से मल न निकाल पाती हों—पाखाना नियमित न होता हो २. जब पेशाब कम होता हो ३. जब रोमकूप खुले न हों— ४. पसीना न आता हो। जब श्वास की गति कमजोर हो।

ज्वर

शरीरमें प्रकोप जारी रहनेकी अवस्था ही ज्वर है। हम प्रकोप या खमीरका उठना बाहर भी देख सकते हैं। यदि किसी बोतलमें हम पानी डालकर उसमें जौका आटा, गुड़ और महुआ मिलाकर कुछ दिनों रहने दें तो उस तरल पदार्थमें एक परिवर्तन दिखाई देगा। आम तौरसे इसीको खमीर उठना कहा जाता है। खमीर एक प्रकारसे वस्तुका विघटन—अपक्षय है। इसमें सूक्ष्म वानस्पतिक जीवाणु (बैसिली) पैदा हो जाते हैं। माना यह जाता है कि ये जीवाणु खमीरवाली सामग्रीमें बाहरसे पहुंचते हैं और फिर वहां फैलते हैं। पर वास्तवमें वे बाहरसे आकर वहां खमीर उठाते हैं अथवा उपादान ही जीवाणुरूपमें परिवर्तित हो जाता है, यानी जीवाणु उन पदार्थोंकी उपज हैं, जो खमीर उठनेसे विघटित हुए हैं ?

खमीर उठनेका प्रतिकूल प्रकार रोग है और सौम्य प्रकार

हमारे स्वास्थ्यका कारण होता है। खुराकको पचानेके लिए भी हमारी आंतोंमें खमीर उठनेकी क्रिया तो जारी रहती ही है। उसका विकट रूप धारण करना ही रोगका कारण होता है।

बोतलमें खमीर कैसे उठता है ?

पहले खमीरी पदार्थकण तरल द्रव्यसे अलग होकर बोतलके पेंदेमें एकत्र हो जाते हैं। बोतलको हिलाने या तापमानके बढ़ने-घटनेपर उस सामग्रीमें गतिशीलता आती है—वह फैलती है। फैलनेमें खमीरी द्रव्यके और तापमानके अनुपातसे यह ऊपरकी ओर बढ़ती है।

आसव और सिरकोंको खमीर क्रियासे बचानेके लिए यथासम्भव ठंडी जगहमें—धरतीके नीचे तहखानोंमें रखा जाता है। तहखानोंके तापमान पर बाहरका आकस्मिक असर नहीं पड़ता, जो खमीर उठनेके लिए जरूरी है। मानव-शरीरमें भी गरमीकी दशामें खमीर उठनेकी क्रिया अधिक और शीघ्रतासे होती है।

उष्ण प्रदेशोंमें अनेक प्रकारके उग्र ज्वरोंका प्रकोप बराबर पाया जाता है। जर्मनी, इंगलैंड आदि ठंडे प्रदेशोंमें जीर्ण रोगोंकी अधिकता रहती है। उष्ण प्रदेशोंमें तापमानमें परिवर्तन अधिक तथा शीघ्र होता है। वहां दिनमें थर्मामीटरका पारा १०० डिग्री रहता है और रातको चालीस डिग्री पर चला जाता है, यानी ६० डिग्रीतकका फर्क पड़ जाता है। पर ठंडे, उत्तरी मुल्कोंमें दिन और रातके तापमानमें २२ डिग्रीसे अधिकका फर्क प्रायः बहुत कम ही पड़ता है। अक्सर तो इससे भी कम अन्तर रहता है। ठंडे देशोंमें ज्वर

प्राय: वसन्त ऋतुमें आता है। कारण, उस समय दिन-रातके तापमानमें अन्तर अधिक होता है।

कुछ लोग बच्चोंको उग्र रोग अधिक होनेपर आश्चर्य करते हैं। पर तापमानमें परिवर्तनके सिवा बालककी जीवनी-शक्ति भी इसका कारण होती है। उसकी अधिकताके कारण, शरीरको उत्तेजना देनेके लिए किसी बाहरी उत्तेजक कारणकी कम या बिल्कुल आवश्यकता नहीं होती। शरीरमें किसी उग्र रोगका आविर्भाव दोषको बाहर निकाल देनेका शरीरका स्वाभाविक प्रयास है, अपनेको स्वस्थ रखनेकी जी-तोड़ कोशिश है।

बोतलकी भांतिही, शरीरमें भी खमीरी सामग्री धड़के निचले हिस्सेमें—पेड़ूमें जमा होती है और ऋतु-परिवर्तन अथवा किसी दु:ख या मानसिक उत्तेजनाका निमित्त पाकर गतिशील हो जाती है। इसकी प्रवृत्ति फैलनेकी रहती है। त्वचाके नीचे पहुंचनेपर त्वचा तन जाती है। त्वचाके छिद्र बन्द रहनेपर संघर्ष बढ़ता है और परिणामस्वरूप शरीरमें गर्मी बढ़ जाती है।

ज्वरकी दशामें मनुष्यके शरीरमें एक हल्का शोथ-सा रहता है। त्वचा लचीली होनेके कारण, अन्दर खमीर उठनेसे तनती है। वह तनाव ही शोथ रूपमें दिखाई देता है। त्वचामें अधिक तननेकी गुंजाइश न रहनेपर ज्वरका वेग और खतरा भी अधिक होता है, क्योंकि प्रकुपित दोष—खमीरी द्रव्य—प्रसरित होकर बाहर निकलना चाहता है, पर मार्ग न पा सकनेपर वह अपने लिए अन्दर ही रास्ता बनाता है। उस दशामें शरीर भीतरसे छिन्न हो जाता है और परिणामस्वरूप रोगीका अन्त

भी हो सकता है, पर यह त्वचाके रोमकूपोंके बन्द रहनेकी दशामें ही होता है। उन छिद्रोंको खोल देनेपर खतरा दूर हो जाता है। दोष शरीरसे पसीनेके रूपमें निकलनेका रास्ता पा जाता है, शरीरको आराम मिल जाता है और बढ़ती हुई गरमी तथा त्वचाका तनाव तत्काल समाप्त हो जाता है। ऊपर बोतलकी उपमा दी गई है, पर बोतल और शरीरकी उपमा सर्वांशमें समान नहीं हो सकती। बोतलमें खमीर-वाले द्रव्यको चारों ओर फैलने तथा मुंहसे निकल जानेकी स्वतन्त्रता है—उसका मार्ग खुला हुआ है, पर मानव-शरीरमें हर जगह इसे रुकावट होती है। प्रत्येक अंग दोषके प्रकोपको आगे बढ़नेसे रोकता है। यह द्रव्य जोर लगाकर आगे बढ़ता है। बाधक अंगोंसे इसका संघर्ष होनेसे गर्मी पैदा होती है। यदि इसे कोई सीधा रास्ता न मिला या इसका मार्ग बदल न गया तो इस संघर्षमें उन अंगोंके नष्ट होनेकी संभावना रहती है। यदि प्रकोप रुक गया तो दोष-संचय अंदर-ही-अंदर बढ़ता रहता है। इस संघर्षमें जो अंग विशेष रूपसे प्रभावित होते हैं उन्हीं-पर रोगका नामकरण होता है। जैसे उदरशूल—पेट की बीमारी, हृद्-रोग—हृदयकी बीमारी, कंठशूल—कंठकी बीमारी। पर प्रत्येक रोगीमें किसी अंग विशेषका प्रभावित होना खमीरी द्रव्यका उस रास्तेसे गुजरना है। यह दोष-संचयके स्थान और तरीकेपर भी निर्भर करता है। प्रकोपके पूर्व कई-कई हफ्तों और महीनोंतक रोगीको ठंड-सी लगती रहती है। रक्त शिराओंके (केशिकाओंके) अंशतः अवरुद्ध हो जानेसे तथा रक्तके त्वचाके ऊपरी भाग तक न आ पानेके कारण ही हाथ-पांव ठंडे रहते हैं और इसी कारणसे सारे शरीरमें ठंड लगती रहती है। इस

प्रकार ठंड लगना ज्वरकी पूर्वपीठिका है। इस ओर ध्यान देकर तत्काल उपचार करनेसे रोग जहां-का-तहां समाप्त हो जा सकता है।

जीवाणु

शरीरमें विद्यमान दोष-संचय प्रकुपित होने और खमीर उठनेके परिणामस्वरूप वहां जीवाणु अपने-आप पनपने लगते हैं। प्रकोपकी समाप्तिपर अपने-आप लुप्त भी हो जाते हैं और शरीर स्वस्थ हो जाता है। इसलिए जीवाणुओंसे रोग-संक्रान्तिका सम्बन्ध जोड़ना व्यर्थ है। शरीरमें दोष-संचयके बिना किसी अनोखे प्रकारसे जीवाणुओंके आनेकी कल्पना करना भी बिल्कुल बेकार है। अत: उपाय जीवाणुओंके नाशका नहीं, प्रकोपके कारणको, यानी दोष-संचयको नाश करने—दूर करने—का होना चाहिए। डाक्टरोंकी दृष्टिमें अत्यन्त भयंकर प्रतीत होनेवाले महान् शत्रु, पर वास्तव में बेचारे सूक्ष्म जीवाणु तो उस दशामें स्वत: विदा हो जाते हैं। यदि कोई अपने कमरेको हफ्तों साफ नहीं करता, वहां रोज गर्दगुबार एकत्र होने देता है, तो उस दशामें बहुत जल्द ही अनेक प्रकारके कीट-पतंग जमा होकर कमरेमें रहनेवालेको सताने लगते हैं। कोई जहरीली चीज कमरेमें छिड़ककर हम उनम-से बहुतों-को नष्ट जरूर करदे सकते हैं, पर इससे स्थायी सफाई नहीं होगी क्योंकि कीट-पतंगोंके पैदा होने और बढ़नेका कारण तो कूड़ा है, वह अगर साफ न किया गया तो उससे नित्य नये-नये कीड़े पैदा होते ही रहेंगे। कीड़ोंको पैदा करनेवाले कूड़ेको बनाये रखकर कुछ कीड़ोंको नष्ट करनेसे कोई फायदा नहीं हो सकता। परन्तु सारे कूड़ेको एकबारगी साफ कर देने पर कीड़े अवश्य

चल जायंगे और नित्य साफ करते रहनेपर भविष्यमें कीड़ोंके पैदा होनेकी संभावना मिट जायगी।

दूसरा उदाहरण—हम एक दलदलवाली जगहकी कल्पना करें। गरमीके दिनोंमें ऐसे स्थानोंमें मच्छरोंका भयंकर उपद्रव होता है। उससे बचनेको एक बार जहरीली दवा छिड़ककर सबको मार भी दिया जाय तो उससे पूरा मतलब सिद्ध न होगा। लाखोंलाख मच्छर मारते रहिए, पर यदि दलदल मौजूद रहा तो उसमेंसे करोड़ों मच्छर फिर पैदा हो जायंगे। इन सूक्ष्म प्राणियोंकी पैदायशका कारण तो दलदल है। मच्छरोंसे स्थायी छुटकारा पानेके लिए तो इस दलदलसे मुक्त होना चाहिए। हम देखते हैं कि खुश्क और ऊंची जगहोंपर मच्छर मुश्किलसे ठहर पाते हैं। कोई थोड़े-से मच्छरोंको वहां पहाड़पर बसानेके खयालसे पकड़कर ले भी जाय तो वह देखेगा कि ले गये हुए सब-के-सब मच्छर अपनी उस पुरानी भूमि दलदलमें फिर वापस आ गए हैं। कारण, खुश्क पहाड़ी इलाका उनके बसनेके लिए उपयुक्त स्थान नहीं है।

तीसरा उदाहरण—गरम मुल्कोंमें पाये जानेवाले कई प्रकारके जीव ठंडे मुल्कोंमें नहीं मिलते। प्रकृति उन गरम देशोंमें अनेक प्रकारके मांसभक्षी प्राणियोंको पैदा करती है। उन्हें बहुत प्रयत्न करके भी समाप्त नहीं किया जा सकता। पुरानोंको खत्म करते ही नये आ जायंगे। ये जीव वहीं पनपते हैं, जहां जीवोंकी वृद्धिके कारण सड़ान अधिक होती है। उस सड़ानको यदि प्रकृतिकी ओरसे शीघ्र समाप्त करनेका कोई साधन न हो तो मृत पशुओंकी लाश बहुत जल्द वायुको विषाक्त कर देगी और वह स्थान जीवोंके बसने योग्य न

रह जायगा। इससे स्पष्ट है कि मांस और मुर्दोंपर गुजर करनेवाले विशेष प्रकारके जीव गरम मुल्कोंमें ही आबाद रहते हैं, ठंडे उत्तरी देशोंमें नहीं। यहां तो सिर्फ घास-पातपर गुजर करनेवाला बारहसिंगा भी मुश्किल से रह पाता है। इन मृत प्राणियोंकी लाशपर गुजर करनेवाले जानवरोंको उन मुल्कोंसे नेस्तनाबूद करना हो तो हमें उनकी उपस्थितिका कारण दूर करना होगा। वहां पैदा होनेवाले जीवोंकी पैदायशका कारण दूर करनेपर ये मांसभक्षी प्राणी अपने-आप दूर हो जायंगे।

प्राणी जितना सूक्ष्म है, उसे दूर करना उतना ही अधिक कठिन है। उदाहरणके लिए जीवाणुको ही लें। जीवाणुओंके नाशका उपाय दवा नहीं है। उनके पनपनेका कारण मिटाकर, यानी शरीरसे सारा दोष-संचय हटाकर हम उन्हें दूर कर सकते हैं। इस वर्णनसे मालूम हो जायगा कि शरीरमें जीवाणुओंका कारण दोष-संचय ही है और संयोग पाकर उस दोषका प्रकुपित हो जाना ही रोग है। दोष के शरीरसे बाहर निकलनेका मार्ग न पानेपर त्वचामें रगड़ पैदा होती है और उससे शरीरका जो तापमान बढ़ता है वही ज्वर कहलाता है। क्योंकि प्रकोपक्रिया तो शरीरमें जमा दोषके अल्पांशको प्रभावित करती है, शेष भाग तो अछूता ही पड़ा रहता है, जो अवसर पाते ही फूट पड़ता है। अतः हमें शरीरमें छिपे हुए सुप्त दोष-संचयको जड़मूलसे निकालकर बाहर करनेकी कोशिश करनी चाहिए।

सारांश

सारे रोगियोंमें शरीरकी आकृतिका परिवर्तन निश्चित वस्तु है। परिवर्तनोंका कारण दोष-संचय है। शरीरमें इस

प्रकार दोष-संचय होना ही रोग है। इस दोष-संचयमें शरीरके अन्दर उन अनावश्यक द्रव्योंका जमाव हो जाता है, जिन्हें अन्दर नहीं रहना चाहिए। पर मेदेकी पाचन-शक्तिकी खराबीके कारण वे शरीरके अन्दर रह जाते हैं। दोष प्रथम शरीरकी उत्सर्ग-इन्द्रियोंके आसपास संचय होकर फिर धीरे-धीरे शरीर-भरमें प्रसरता है, विशेषतः प्रकुपित होनेकी दशामें। उत्सर्ग इन्द्रियों द्वारा इस दोषके बाहर निकलते रहनेकी दशामें काम कुछ चलता रहता है, पर यह क्रिया बाद हो जानेपर कष्ट आरम्भ हो जाता है। यदि प्रकोप भीतरी अंगों तक ही सीमित रहा तो उष्णता भी विशेषतः भीतर ही रहती है। इस दशामें ऊपरी हिस्से ठंडे रहते हैं। बाहरी ज्वरकी अपेक्षा यह दशा अधिक भयंकर है। ठंडके बाद हमेशा बखार होते देखा जाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि ठंडको उष्ण दशामें परिर्वातत करके भीतरी उष्णताको बाहर ला दिया जाय जिससे, दोष-संचय भी उसके साथ बाहर आ जाय। दोष-संचयके सुप्त या जीर्ण दशामें रहनेपर तो मुद्दतों तक उसका पता नहीं चलता।

संयोग पाकर दोष-संचयका बिखरना अवश्यम्भावी है। यही प्रकोपका वास्तविक कारण होता है। यह जीवाणुओंके पनपनेके लिए क्षेत्र तैयार करता है। प्रकोप आमाशयमें, जहां अधिकतर दोष-द्रव्य मौजूद रहते हैं, आरम्भ होकर फिर तेजीसे ऊपर बढ़ता है। तब रोगीकी दशा बदल जाती है, उसे बेचैनी होने लगती है, ज्वर आरम्भ हो जाता है। रोगके इन रूपोंको कष्टदायक--उग्र रोग कहा जाता है।

इस विवेचनसे हम इस परिणामपर पहुंचते हैं **कि रोगका कारण एक है और रोग भी सिर्फ एक ही है। वह अपने-को केवल भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रकट करता है। इसलिए हमें विभिन्न रोगोंके बदले रोगके विभिन्न रूपोंकी बात करनी चाहिए** । आगन्तुक रोग—आघात, चोट वगैरह रोगकी उपर्युक्त व्याख्या में नहीं आते ।

: ३ :

बच्चोंके रोग

खसरा, बुखार, गलघोंटू (डिप्थीरिया), चेचक

पिछले विवेचनके अनुसार तो हमें रोगोंके नाम रखनेकी कोई जरूरत नहीं थी, लेकिन लोगोंको समझानेके लिए नाम देने पड़ते हैं।

बच्चोंके इन सभी रोगोंका कारण दोष-संचय है। अधिकांश बच्चोंका, इन रोगोंसे पीड़ित होनेका, कारण यह होता है कि वे प्राय: माताके गर्भसे दोष लिये हुए ही बाहर आते हैं। प्रौढ़ोंकी अपेक्षा बच्चोंके अधिक बीमार पड़नेकी वजह उनमें जीवनीशक्तिका अधिक होना है।

बच्चेके शरीरमें दोष-संचय रहने देना उसे मौतके सिरहाने खड़ा रखना है। रोगसे बचानेके लिए हमें उनके शरीरमेंसे गर्भसे लाये हुए दोष-संचयको दूर करके नया जमा न होने देनेका ध्यान रखना चाहिए।

बच्चोंके रोगोंके रूपोंमें बड़ी भिन्नता होती है, तदनुसार ही लोगोंके मनमें कम-ज्यादा डर भी रहता है। लेकिन रूपोंमें चाहे जितनी भिन्नता होनेपर भी दो प्रधान चिह्न—गरमी और ठंडक अवश्य होते हैं।

खसरा

लक्षण—बच्चा बेचैन रहता है, सोता नहीं है। त्वचा

गरम तथा खुश्क रहती है। बच्चा ज्वरग्रस्त समझा जाता है। इस वक्त तक आगे का पता नहीं रहता। दूसरे बच्चोंको उस समय खसरा निकला देखकर अन्दाज किया जाता है कि इसे भी शायद वही होगा। पर प्राकृतिक चिकित्साके उपचारमें खसरा निकल आनेतक ठहरनेकी क्या जरूरत है? हमें ज्वरकी चिकित्सा आरम्भ करनी चाहिए। त्वचा-रंध्रोंको खोल देना चाहिए, जिससे शरीरसे पसीना निकलने लगे। साथ ही, कुछ ठंडे उपचार द्वारा गरमीको पेड़ूकी ओर खींचना चाहिए। पसीना आते ही ज्वर घटना शुरू हो जायगा।

इस उपचारसे बहुत करके तो खसरा निकलेगा ही नहीं; क्योंकि, जो दोष खसरेकी शक्लमें बाहर आता, वह दूसरे स्वाभाविक उत्सर्ग-मार्गोंसे पसीने, पेशाब, पाखाने और सांस-के रूपमें बाहर निकल जायगा। तत्काल यह उपचार न अपनानेपर खसरा निकल आता है। सारे बदनमें लाल दाने उभर आते हैं। दाने जितने ज्यादा और जोरसे निकलते हैं, दोष-संचय उतनी ही तीव्र गतिसे त्वचा द्वारा बाहर निकल जाता है और बच्चेकी जानकी जोखिम उतनी ही कम रहती है। दाने कम निकलने या कमजोर निकलनेपर उष्णता भीतरी अंगोंमें रह जाती है और वे अंग खतरेमें पड़ जाते हैं। तब, जल्दी ही, छातीमें दाह होकर बच्चेका प्राणान्त हो सकता है। इस हालतमें बच्चेकी मौतका कारण खसरेका निकलना नहीं, बल्कि उसका पूरी तरह न निकलना होता है।

खसरेसे पूर्ण रूपसे मुक्ति पानेके लिए शरीरके सब स्वाभाविक मलद्वारोंको खोल देनेका यत्न करना चाहिए। शरीरकी भीतरी उष्णता पूरी तरह शान्त होने तक विधिवत्

ठंडक पहुंचामी चाहिए। इससे पाचन भी सुधरेगा। बच्चेको पसीना लानेका अच्छा उपाय मांका रातको बच्चेको अपनी छातीसे लगाकर (दोनोंके कपड़े खुले रखकर) सोना है। यह न होनेपर उसे नरम गद्देपर सुलाकर पूरा गरम कपड़ा ओढ़ाना चाहिए, जिसमें पसीना आ जाय। बच्चेका मुंह नहीं ढकना चाहिए। कमरेमें खिड़कियां खुली रखकर चौबीसों घंटे स्वच्छ हवाके आवागमनकी व्यवस्था रखनी चाहिए। गरम कपड़ोंसे पसीना न आनेपर बच्चेको भाप-नहान और फिर शरीरको तत्काल ठंडक पहुंचानेके लिए मेहन-स्नान देना चाहिए।

पसीना लाते ही बच्चेकी दशा सुधरने लगेगी। ज्वर चला जायगा। यदि ज्वर लौट आये तो फिर कटि या मेहन-स्नान देकर बादको पसीना लानेके लिए बच्चेको भलीभांति ओढ़ा देना चाहिए। मेहन-स्नानसे ठंडक और फिर ओढ़ाकर गरम करनेका यह क्रम तबतक जारी रखना चाहिए जबतक कि बुखारका लौटना बन्द न हो जाय।

सिर, आंख अथवा शरीरके दूसरे किन्हीं अंगोंमें विशेष दर्द होनेपर हमें सिर्फ उन-उन अंगोंको स्थानीय भाप-नहान देकर भारीपन हटाना चाहिए। पसीना आते ही वहां आराम मालूम होगा और उस भागके दोष-संचयके प्रकोपसे खतरेमें पड़नेका भय भी जाता रहेगा। इस प्रकार स्थानीय भापके बाद कटि या मेहन-स्नान देना न भूलना चाहिए।

सुर्ख बुखार

इसके भी पूर्व-लक्षण वही हैं। सिर्फ बुखारका जोर

ज्यादा होनेकी वजहसे घरवाले अधिक घबराते हैं। इस बुखारमें पहले निकले हुए दानोंका रंग सिन्दूरकी भांति सुर्ख होनेके कारण इसका नाम सुर्ख बुखार पड़ गया है। दाने पहले छोटे-छोटे होकर फिर एकमें मिलते-मिलते बड़े होते हैं। खसरेकी तरह सारे शरीरपर न निकलकर विशेषतः सिर, छाती और पेटपर निकलते हैं। पांवोंपर दाने शायद ही निकलते हैं। पांव अधिकतर ठंडे, पर दूसरे सब अंग ज्वरसे दहकते रहते हैं। सिर और छातीमें अधिक पीड़ा रहती है। कानमें चभक होती है, आंखें दुखती हैं। कारण, पेड़ूमें विद्यमान दोष-संचय प्रकुपित होकर ऊपर गर्दन और सिरकी ओर बढ़ता है। इसीलिए, दाने पैरोंपर ज्यादा न निकलकर शरीरके ऊपरी भागोंमें अधिक निकलते हैं। दाने कम निकलनेपर जहरीला माद्दा पूरा नहीं निकल पाता और इससे बच्चेको खतरा रहता है। इस रोगमें आंख, कानको अधिक खतरा होनेके कारण इन अंगोंके निकटस्थ दोष-संचयको दूर कर देनेके लिए सिरको भाप देनी चाहिए। सिरपर पसीना ला देनेसे कान-आंखकी पीड़ा जाती रहती है। कभी-कभी चभक फिर होने लगती है। इसके बिल्कुल चले जाने तक सिरको बीच-बीचमें भाप देते रहना चाहिए। शरीरसे प्रकुपित दोष-संचय बिल्कुल निकल न जानेतक बारंबार वेदना होती है। इसके लिए पेड़ूका ठंडा घर्षण-स्नान लेनेसे आंतों, गुर्दों और त्वचाके रास्ते दोष निकल जाता है। ज्वरके आरम्भ होते ही पाचन-क्रिया बिल्कुल अव्यवस्थित हो जाती है। कुछ बिगड़ी तो वह होती है रोग प्रकट होनेके पहलेसे ही। रोगी अनुभव न करे, यह दूसरी बात है। पाचन-प्रणालीकी श्लैष्मिक

झिल्लीकी तरीको ज्वर सुखा देता है। परिणामस्वरूप कब्ज हो जाता है। पेड़ूके घर्षण स्नानसे ठंडक पहुंचानेपर पाचन-प्रणाली पर अच्छा प्रभाव पड़ता है और बड़ी आंतें काम करने लगती हैं। पर सुर्ख बुखारके रोगियोंका अधिक समय तक निरन्तर उपचार करनेपर ही लाभकी आशा की जा सकती है।

डिप्थीरिया (गलघोंटू)

इस रोगके नामसे ही बच्चोंके माता-पिताओंके प्राण सूखते हैं। इसके कष्ट और खतरेको सब जानते हैं। दूसरे बाहरी लक्षणोंमें कुछ भिन्नता होनेपर भी ज्वर-सम्बन्धी एकता तो इसमें भी रहती ही है। बच्चोंको डिप्थीरियामें ज्वर बिल्कुल हल्का होता है। वे बिछौनेपर चुप पड़े रहते हैं। सांस लेनेमें कठिनाई जरूर होती है। प्रायः ज्वर भीतर बना रहता है। त्वचा अधिकतर निष्क्रिय रहती है। आंतें और गुर्दे शिथिल रहते हैं यानी पेशाब-पाखाना कम होता है। दोष बाहर निकलनेको जोर करता है और निकल न पानेपर अन्दर बढ़ता है। यह दशा ज्यादा खतरनाक होती है। खसरे और सुर्ख बुखारकी भांति शरीरकी त्वचा द्वारा दोषको बाहर कर देनेमें सफल हो जानेपर सब खतरा तुरंत टल जाता है, अन्यथा खतरा अधिक रहता है। इस भीतरी गरमीको बाहर न ला पानेपर आरामकी आशा कम रहती है। उस दशामें प्रकृतिके लिए दोषको बाहर निकालनेका एकमात्र स्थान गला ही रह जाता है, जहां प्रकुपित दोष-संचय पूरे जोरसे बढ़ता है और इससे प्रायः दम घुटकर रोगीकी मृत्युका डर रहता है।

ऐसे संकटके समय पहला काम स्थानीय उपचार द्वारा

गलेको राहत देना है। गलेको भाप देकर यह काम शीघ्रता-से और अच्छी तरह किया जा सकता है। इससे वेदना घटकर, दोषके निकलनेमें मदद मिलती है। बुनियादी लाभके लिए तो, शरीरसे सारे दोषको निकालनेका यत्न करना चाहिए। पर तात्कालिक संकट कट जानेसे आगेकी सफाईके लिए मौका मिल जाता है। कटि तथा मेहन-स्नानोंसे आश्चर्यजनक शीघ्रतासे गलेकी दशा सुधर जाती है। विशेषतः घर्षण मेहन-स्नान बहुत ही अच्छा काम करता है। दो-चार स्नानोंके बाद ही रोगकी वृद्धि रुक जाती है या बहुत हल्की हो जाती है।

डिप्थीरियामें प्रकुपित दोषके फैलनेके कारण गला भयंकर रूपसे तन और सूज जाता है। वहां जलन होने लगती है। डिप्थीरियाके पूर्णरूपसे प्रकट होनेके पहले मरीज जोड़ों-में, घुटनोंमें और कन्धोंमें दर्दकी शिकायत बराबर करता रहता है। घुटने और कंधेकी तकलीफको तो आदमी काफी दिनों तक बर्दाश्त कर सकता है, लेकिन गलेकी तकलीफ असह्य होती है। उसका उपाय तत्काल होना चाहिए। पर तात्कालिक उपायके बाद आगेका इलाज न करनेपर खतरा दूर नहीं होता। इलाज पूरी लगनसे तबतक जारी रखना चाहिए जबतक कि दस्त साफ न होने लगे और पाचन सुधर न जाय—भूख ठीक न लगने लगे। उस समय तक रोगीको खतरेसे बाहर नहीं समझना चाहिए।

स्मरण रखना चाहिए कि हमारे शरीरमें दोष-निष्कासनके जो कई मार्ग हैं, उनमें हमारी त्वचाका विशेष महत्त्व है। भीतर जमा हुए दोषको बाहर निकालनेका काम यह विशेष रूपसे करती है। आप रबरकी टोपी लगी हुई एक

बोतलकी कल्पना करें। जबतक टोपीमें कोई रास्ता नहीं है तबतक खमीर उठते रहनेपर टोपी फैलती जायगी। पर उस रबरकी टोपीमें सुईसे छेद कर दिया जाय तो सब गैस उस रास्ते निकल जायगी और टोपी पिचककर अपनी असली शक्ल-में आ जायगी। इसी प्रकार, पसीना लाकर त्वचाके छिद्र खोल देनेसे दोष उस मार्गसे निकल जायगा। पसीना भीतर-से आया हुआ दोष ही है, वैसे ही, जैसे मल-मूत्र, बल्कि उससे अधिक। शरीरको स्वस्थ दशामें रखनेके लिए त्वचाका अपना कार्य पूर्ण रूपसे सम्पादन करना बहुत आवश्यक है। स्वस्थ मनुष्योंकी त्वचा सदा तर और गरम रहती है, खुश्क और ठंडी त्वचा रोगका निश्चित चिह्न है।

डिप्थीरियाके रोगियोंमें त्वचा प्रायः पूर्णतया निष्क्रिय होती है। उसे विशेष सक्रिय करनेकी जरूरत रहती है। ऐसी बीमारीमें भी मांको बच्चेको अपने साथ सुलानेमें डरना नहीं चाहिए। इससे बच्चेकी रक्षा होती है। पाखाना नियमित न होनेकी दशामें प्रकृति त्वचासे दोष निकालने-का काम लेती है और त्वचासे दोष निकलता भी है। यदि मां बच्चेकी त्वचाके खुश्क होते ही उसे अपने बदनकी गर्मी देकर उसकी त्वचाके छिद्रोंको खोल दे और उसकी आंतों और गुर्दोंको ठीक काम करनेका यानी पाखाना, पेशाब ठीक होने-का ध्यान रखे तो डिप्थीरियाके होनेका खतरा ही न रहेगा।

पसीना लानेका दूसरा कोई उपाय न होनेपर ही बच्चेके लिए अप्राकृतिक उपाय यानी भाप-नहानका प्रयोग करना चाहिए।

चेचक

बच्चोंको यह रोग बहुतायतसे होता है। पर ठीक उपचार किये जानेपर इसमें कोई संकट नहीं होता। गलत उपचार होनेपर रोगीकी मृत्यु शीघ्र हो जाती है।

पूरी निकल आनेके बाद तो चेचक पहचानमें आ जाती है, लेकिन शुरूमें तो बच्चोंकी दूसरी बीमारियोंसे इसमें कोई फर्क नहीं होता, सिर्फ बुखार तेज रहता है। धीरे-धीरे खसरेकी भांति ही मटरके बराबर सुर्ख दाने निकलते हैं। फिर वे कुछ बड़े होकर बदनको घेर लेते हैं। उन दानोंके बीचमें एक काला बिन्दु बन जाता है। ये दाने सारे शरीरमें हो सकते हैं, अथवा खास-खास स्थानोंमें। इसका कारण शरीरमें दोषका असमान संचय और प्रसार होता है, जिससे प्रकोपकी वृद्धिका अनुमान किया जा सकता है। मुंहपर चेचक निकलना भयानक समझा जाता है, क्योंकि सही उपचार न होनेपर चेहरा बिगड़ जाता है।

यह कोई संयोगकी बात नहीं होती कि किसी व्यक्तिके चेचकके दाने शरीरके एक हिस्सेमें निकलते हैं और दूसरेके दूसरे हिस्सेमें, या यह कि एक ही व्यक्तिके शरीरके किसी हिस्सेमें ज्यादा निकलते हैं, किसी हिस्सेमें कम। सिरमें जरूर निकलते हैं और यह कि शरीरके कुछ हिस्से पर थोड़ेसे दाग दिखाई देते हैं, जबकि सारा चेहरा बदनुमा हो जाता है। इसका कारण यह होता है कि शरीरमें जहां दोष-संचयकी अधिकता होती है, वहां प्रकोप अधिक होता है और वहीं दाग ज्यादा पड़ते हैं। शरीरके स्थान विशेषमें दोष-संचय अधिक मात्रामें होनेपर शरीरके दूसरे

भागकी अपेक्षा वह भाग अधिक प्रभावित होता है। इस प्रकार सम्भव है कि किसीका सारा चेहरा चेचकसे भर जाय और शरीरके दूसरे हिस्सोंमें सिर्फ जहां-तहां ही दाने निकले हों। सिर तो दोष-संचयके लिए आखिरी स्टेशन है। दोष प्रकुपित होनेपर यहीं जाकर रुकता है और सिरसे बाहर निकल न पानेपर वहां उपद्रव करता है।

चेचक पूरी तरह निकल आनेपर खतरा जाता रहता है। आम तौरसे वही रोगी मरते देखे जाते हैं, जिनका शरीर प्रकुपित दोषको निकालने में असमर्थ होता है। कभी-कभी मृत्युके बाद तुरंत चेचक जोरसे फूटी देख पड़ती है। इस लक्षणसे यह कहना गलत न होगा कि रोगी चेचक निकलनेसे नहीं, बल्कि पूरी तरह न निकल पानेसे मरा। रोगी जब मरता है, ज्वरकी पूर्ण उग्र दशामें मरता है। चेचक फूटनेसे पहले चेचकके रोगियोंको तेज बुखार जरूर होता है। शरीरकी तप्त दशामें चेचकके दानोंमें खाज और जलन होती है। रोगीका उसे खरोंचनेका मन होता है। इससे दाने पकनेके पहले ही फूट जाते हैं और शरीरपर भद्दे दाग रह जाते हैं। पहले तो खरोंचनेसे बचानेको रोगीके हाथ बांध दिये जाते थे। रोगीपर यह बहुत बड़ा संकट होता था। लेकिन आज तो हम जलन और खाजको उसी सरल उपचारसे दूर कर सकते हैं, जिससे हम बुखारको हटाते हैं। रोम-कूपों को खोलकर—शरीरमें पसीना लाकर—फिर रोगीको पेड़ूका, जहां प्रकोपका अड्डा है, ठंडा स्नान देते हैं। हम बोतलमें रखे हुए सिरकेमें देखते हैं कि ताप कम होनेपर उसमें खमीर भी धीरे-धीरे उठता है।

ताप हर प्रकारके प्रकोपको बढ़ाता है और शीत रोकता है।

चेचकमें शरीर पूर्ण रूपसे उत्तेजित दशामें रहता है। पर उपर्युक्त उपचार-विधिसे सब तरह का खतरा जाता रहता है और कुछको छोड़कर प्रायः रोगियोंको लाभ पहुंचता है। कहीं-कहीं लाभ न होनेका कारण शरीरमें दोष-संचयका इतना अधिक होना है कि त्वचाको सक्रिय कर देनेपर भी दोष शीघ्रतासे नहीं निकाला जा सकता, अथवा शरीरमें इसे निकालनेकी पूरी शक्ति नहीं होती। लेकिन उपचार देर-से शुरू करनेकी दशामें ही ऐसा होता है। रोग आगे क्या रूप लेता है, इसकी बाट न देखकर ज्वर होते ही उपचार शुरू कर देना जरूरी है।

चेचकसे बचनेके लिए टीका लेना तो बहुत ही बुरा है। इसके द्वारा अप्राकृतिक रूपसे शरीरमें गन्दगी पहुंचाई जाती है। प्राकृतिक नियमोंके अज्ञानके कारण ही लोग टीके जैसी गलत चीजको लाभदायक मानते हैं।

कुकुर खांसी

कुकुर खांसी डिप्थीरिया या चेचक जितनी भयंकर न समझी जानेपर भी यह काफी बच्चोंकी भेंट लेती है। बहुतेरे बच्चे इस प्रकारकी खांसीसे बुरी तरह तकलीफ पाते हैं। **किसी भी तरहकी खांसी भीतरी विकारका ही चिह्न है,** क्योंकि मनुष्य खांसने-थूकनेवाला प्राणी तो है नहीं। दोष ऊपरकी ओर न जाने और नीचेका मार्ग अवरुद्ध न होनेकी दशामें कभी खांसी नहीं उठती। त्वचा-रंध्र खुले होने—अच्छा पसीना आने और आंतें तथा गुर्दे अपना काम ठीक करते रहनेपर भी खांसीकी संभावना नहीं रहती।

इस रोगसे पीड़ित बच्चोंमें भी प्रकोपका सामान्य लक्षण—ज्वरांश रहता है। दोष गर्दन और सिरकी ओरसे निकल जानेका रास्ता खोजता है, पर उधर कोई ऐसा द्वार नहीं है। खांसीके दौरेमें पसीना आ जाय तो रोगी बिना किसी उपचारके उससे मुक्त हो जाता है, अन्यथा रोगीका चेहरा नीला पड़ जाता है और कोई उपचार न होनेपर इस दशामें कभी-कभी रोगीका खात्मा भी हो जाता है। दशा यहांतक खराब हो जाती है कि आंख, नाक और कानोंसे रक्त निकलने लगता है और इस रूपमें दोष बाहर आता है। ऐसी दशामें कुछ होना सम्भव नहीं होता। पर समय रहते शरीरको उचित उपचार मिल जानेपर भयंकर दशाओंमें भी लाभ मिलता है।

भाप-नहानसे ज्योंही पसीना आने लगता है, खांसी कम हो जाती है और पाचन सुधरते ही खांसी बिल्कुल जाती रहती है। आराम होनेकी अवधि तो अनिश्चित होती है। सारा कफ कुछ हफ्तोंमें खत्म हो सकता है और कभी-कभी कुछ दिनोंमें ही। कुकुर खांसीकी दो-तीन मासकी अवधि मानना गलत है।

गंडमाला

इसमें गरमी बाहर नहीं निकलती, इसलिए इसे ज्वर-वर्गमें नहीं गिनते। पर है यह उसी वर्गमें। कम-से-कम भयंकर तो यह उतनी ही है जितनी ऊपर बताई दूसरी बीमारियां। बल्कि उनसे भी बुरी। यह सुप्त जीर्ण रोगोंमें-से है, जो प्रायः पैतृक होते हैं। शरीरमें काफी शक्ति न होनेकी वजहसे ज्वर नहीं आता। देखा गया है कि इस रोगका घर ठंडे-नमीवाले स्थान होते हैं।

रोगके बाहरी लक्षण—बड़ा सिर, चौरस चेहरा, आंखें फूली हुई, गुब्बारा-सा शरीर, कमजोर टांगें, बेडौल हाथ-पैर, बुद्धि मुथरी। इन चिह्नोंमेंसे किसीमें एक मिलता है, किसीमें कई, सब इकट्ठे बहुत कम मिलते हैं। इस रोगमें हाथ-पैर ठंडे रहते हैं और सारे शरीरमें कंपकंपी रहती है। घरकी नाली-में कीचड़ भर जानेसे जैसे वह रुक जाती हैं, वैसेही हमारे शरीरकी रक्त-शिराएं, विशेषतः केशिकाएं, दोषपूर्ण हो जानेसे रक्त त्वचातक पूर्ण मात्रामें नहीं पहुंचा पातीं। इसी कारण ठंड लगती है।

रोग उग्र दशामें न होनेके कारण कोई कष्ट नहीं होता सिर्फ शरीरके अन्य लक्षणोंसे उसका पता चलता है।

गंडमालासे पीड़ित बच्चेका शरीर दोषसे लदा रहता है, जो अधिकतर पैतृकरूपसे प्राप्त होता है। इस दोषके ऊपरी ओर अग्रसर होनेपर उसके दबावसे सिरकी गोलाई गायब होकर उसे चौरस शक्ल मिल जाती है।

हाथ-पैरोंके ठंडे और कंपकंपीकी दशामें होनेपर भी अन्दर गर्मी और बेचैनी रहती है। गंडमालाके मरीजोंमें प्रायः यह दशा पाई जाती है। वास्तवमें यह ज्वरकी एक जीर्ण दशा है। यह दशा बनी रहनेपर गंडमाला बढ़कर क्षयका रूप ले लेती है।

गंडमालाके उपचारमें ठंडकको ज्वरकी दशामें बदल देना चाहिए, यानी दशाको जीर्णसे उग्र कर देना चाहिए। ज्वरको भीतरसे बाहर कर देना चाहिए। फिर उस ज्वरका भी वही इलाज करना चाहिए जो अन्य ज्वरोंका करते हैं—निष्कासन-मार्गोंको मुक्त करना, जिसमें धीरे-धीरे शरीरका

दोष-संचय दूर हो जाय। आंतों, गुर्दों और त्वचाकी क्रियाको जागृत करना चाहिए। त्वचा धीरे-धीरे गरम हो जायगी, यहांतक कि पसीना बहने लगेगा। इससे दशा साधारण हो जायगी, थोड़ा लाभ प्रतीत होगा। पर पूरी तरह आराम होनेका समय बतलाना मुश्किल है। यदि शरीरमें जीवनी-शक्ति नहीं रह गई है तो दिन, हफ्ते, महीने और सालों लग सकते हैं। आराम नहीं भी हो सकता। इसी प्रकार बच्चोंके दूसरे रोग, पाषाणगर्दभ (Mumps), शीतपित्त, बांयटे, अतिसार, सूखा आदिका भी कारण एक ही है।

रोग—दोषके प्रसरणके नियम

रोगके सब रूपोंमें हमें सदा दो बातें मिलती हैं, अधिक उष्णता अथवा अधिक ठंडक। ये दोनों ज्वर-लक्षण हैं; क्योंकि एक ही उपचारसे दोनों आराम होते हैं। हजारों रोगियोंपर यह सिद्ध हो चुका है। रोगके समस्त रूप शरीरमें दोष-संचय-के परिणाम हैं या यों कहें कि रोग केवल एक है, वही भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रकट होता है। इसलिए उपचार भी उसका एक ही होना जरूरी है। रोगकी सब सूरतें, शरीरकी स्वयंको स्वस्थ करनेकी चेष्टास्वरूप हैं। इसलिए औषधवादकी प्रणालीके अनुसार उन्हें दबाकर भीतर कर देनेकी जरूरत नहीं है, बल्कि हमें शरीरके इस प्रयत्नमें उसका सहायक होना चाहिए कि वह जल्द-से-जल्द, कम-से-कम जोखिमका तरीका अपनाकर, अपने दोष-भारसे मुक्त हो सके। शरीरके रोग-मुक्त होनेका सरल और कारगर उपाय यही है। दबाकर अन्दर कर देनेपर रोग असाध्य हो जाता है, शरीरका स्वस्थ होना अशक्य हो जाता है।

इस दशामें दोष शरीरमें चुप नहीं बैठा रहता है। उसमें निरन्तर फेर-बदल होता है।

छूत

क्या उग्र रोग उड़कर एकसे दूसरेको लग सकते हैं? जवाब हां और नहीं, दोनोंमें होगा। वास्तविक स्वस्थ व्यक्ति—दोष-संचयसे रहित शरीर—चाहे जितने जीवाणुओंके अन्दर जानेपर भी, किसी रोगकी छूतसे बीमार नहीं पड़ सकता। जिनके शरीरमें दोष-संचय है, उनके शरीरमें जीवाणु पहुंचनेपर यदि ऋतुकी अनुकूलता हुई तो उस दोषके प्रकुपित हो जानेके वे कारण बन जायंगे। दोष-भार थोड़ा होनेपर छूत-का डर भी कम रहेगा।

उग्र रोगकी दशामें दोष-संचय निरन्तर प्रकुपित अवस्था-में रहता है और शरीरसे खारिज होता रहता है। इसीलिए संक्रामकताका अधिकाधिक भय रोगसे अच्छे होते हुए लोगों-से है। यदि हम किसी खमीर उठनेवाले पदार्थको ऐसी चीज़में मिला दें कि जिसमें जल्दी खमीर उठनेकी सम्भावना हो तो हम देखेंगे कि यदि काफी गरमी हो तो खमीर तुरत उठने लगेगा। जैसे गरमीमें दूधमें जोरन डालते ही खमीर पैदा हो जाता है, वही दशा उग्र रोगमें भी होती है। खमीर पैदा हुआ दोष-संचय रोगीके सांस, उसके पसीने, पेशाब या पाखाने द्वारा हवा में फैलता है और दूसरे दोष-संचय-पूर्ण शरीरमें पहुंचकर ठीक उसी तरह काम करता है जिस तरह जोरन दूधमें काम करता है यानी खमीर उठा देता है। इस प्रकार दूसरे शरीर-में वही खमीर यानी वही रोग या कहिए वही लक्षण पैदा होते

हैं जो पहले शरीरमें थे। यह छूतकी सारी विधि एक प्रकार-का इंजेक्शन है। इस प्रकार छूतका भय सिर्फ उन्हींको रहता है, जिनके शरीरमें बड़ी मात्रामें दोष-भार मौजूद है या कहिए कि जिनके शरीरमें इसके लिए प्रवृत्ति है। अबतक इस प्रवृत्तिका आधार निश्चित नहीं हुआ है। दोष-संचयके परिणाम-स्वरूप स्वाभाविक रूपसे शरीरमें रोगाणु प्रवेश करने और ऊपरसे टीकेद्वारा शरीरमें रोगाणु प्रवेश करानेमें फर्क इतना ही होता है कि टीकेसे शरीरमें जो लसी डाली जाती है, कमजोर करके और कम मात्रामें दी जाती है। अल्प-मात्रामें दी गई लसीका परिणाम शरीरपर शीघ्र होता है। होमियोपैथी का सिद्धांत है कि उचित क्षेत्र पानेपर वस्तुकी मात्रा जितनी कम होगी, उसका जोर उतना ही ज्यादा होगा। परिणामस्वरूप, यह शरीरकी उग्र रोगोंके रूपमें गंदगीको बाहर निकाल फेंकनेकी मौजूद शक्तिको खत्म कर देती है। साथ ही, दोष-संचयको अधिक बढ़ाकर जीर्ण दशा पैदा कर देती है। टीकेके प्रचलनके बाद जीर्ण रोगोंकी बाढ़से यही प्रमाणित होता है। ज्वरको शीघ्रतासे रोकनेको दी जानेवाली—कुनैन, ऐंटी पायरिन, ऐंटी फाइब्रिन, मरफिया जैसी सब दवाइयोंका एक ही असर होता है। वे सब, शरीरके अपने प्रयत्न द्वारा स्वस्थ होनेकी शक्तिको झूठा कर देती हैं—मार देती हैं। दोष-संचयके प्रकोपको एक बार तो घटा देती हैं या बन्द कर देती हैं, किन्तु दोषको कभी निकालती नहीं हैं। इसीसे, पहले न होनेवाली अनेक अनोखी बीमारियां, जैसे कैंसर, पागलपन, लकवा, उपदंश, क्षय, गंडमाला आदि भयंकर रोग आज बहुतायतसे दिखाई

देते हैं। शरीरमें दोष-संचय निरन्तर बढ़ता जाता है और किसी आराम करनेवाले उभारको लानेकी शक्ति शरीरमें नहीं रहती। उपर्युक्त रोगोंमें दोष-संचय पूर्णता को पहुंचा रहता है और इस प्रकार पूर्ण आरोग्य होना प्रायः सम्भव नहीं रह जाता।

शुरू-शुरूमें हर नई दवा शरीरकी जीवनी-शक्तिको क्षय करके उभार को दबाती है। पर आगे चलकर शरीर उस दवा-का ऐसा आदी हो जाता है कि उससे कुछ काम नहीं बनता। तब उससे अधिक जोरदार दवा जीवनी-शक्तिको क्षय करनेके लिए तलाश की जाती है। अंतमें किसी भी दवाके दोष-संचयके प्रकोप-को रोकनेमें असमर्थ होनेपर उस प्रकोपसे मनुष्यका प्राण नाश होता है। तम्बाकू पीना सीखनेवाला कोई भी आदमी अपने आमा-शयसे तबतक लड़ाई करता है जबतक कि उसका मेदा तम्बाकू-के विषसे युद्ध करनेमें मूर्छित—निःसंज्ञ नहीं हो जाता। आरम्भ-में मेदा इस विषसे अपनी रक्षाका पूर्ण प्रयत्न करता है और समर्थ रहता है, लेकिन शीघ्र ही वह अशक्त हो जाता है। नतीजा यह होता है कि फिर उस विषका वह कोई प्रतिरोध नहीं कर पाता। अब हमें मेदेपर पहले जैसा प्रभाव डालनेके लिए उससे जोर-दार विषकी आवश्यकता होती है। जो लोग तम्बाकू पीना शुरू ही करते हैं और तत्काल उसे बर्दाश्त नहीं कर सकते, प्रायः कहते हैं, जिसे सुनकर हमें अचम्भा होता है, कि अभी उनका मेदा बहुत कमजोर है, कुछ दिन बाद वह बर्दाश्त कर सकेगा। वास्तवमें तो मेदा कमजोर होनेके कारण विरोध नहीं करता, बल्कि उसकी शक्तिका सबूत है कि वह तम्बाकूके विषको जबर्दस्ती निकाल फेंकनेकी ताकत रखता है। विरोध न कर पानेके मानी तो

होते हैं कि उसकी स्वाभाविक प्रतिकार क्षमता मारी गई है यानी वह अशक्त हो गया है।

शरीरके इस प्रकार सुप्त दोष-भारसे लद जानेपर, उसे उभारकर उस दोष-संचयको दूर करनेके लिए किसी अधिक उत्तेजक कारणकी आवश्यकता होती है। क्योंकि इसकी शक्ति क्षीण हुई रहती है। यह कार्य ऋतु-परिवर्तनसे होता है। इसीलिए हम जाड़ोंके बाद प्रायः महामारियां फैली देखते हैं।

उदाहरणतः, सिरकेकी एक बोतलको किसी अंधेरी ठंडी जगहमें रखनेपर, उसमें खमीर शीघ्र न उठेगा, पर धूपमें—गरम तापमानमें—रखते ही खमीर उठने लगेगा। ऊपरका काग चाहे जितनी मजबूतीसे लगाये जानेपर भी खमीरके उठनेमें कोई फर्क नहीं पड़ेगा। यह खमीर किसी जीवाणुके कारण नहीं, सिर्फ रोशनी और उष्णताके कारण उठता है। इसमें पाये जानेवाले जीवाणु खमीरके कारण पैदा हुए होते हैं। खमीर उठनेपर सिरकेकी शक्ल भी जो पहले साफ थी, भूरी हो जाती है।

जाड़ेमें ताल, पोखरोंके पानीको हम अपेक्षाकृत साफ पाते हैं, क्योंकि ठंड सारी खमीर-क्रियाको रोक देती है। पर गर्मीमें वही पानी गंदला—मटमैला हो जाता है।

छूतकी प्रत्यक्ष संभावना न होनेपर भी महामारी क्यों होती है? किसी एक रोगको आज यहां और उसी रोगको कल सैकड़ों कोस परे, क्यों पाया जाता है?

पूर्वोक्त व्युत्पत्तिके अनुसार शरीरोंमें दोष-संचय न होनेपर महामारियोंका होना असंभव है। यों तो महामारिय हर साल ही आती रहती हैं, पर हमेशा उतने जोरसे नहीं आतीं कि जितनी जोरसे १८९० के आरंभमें इन्फ्लुएंजा आया था। लेकिन हर साल

एक खास वक्तपर हैजा, चेचक, खसरा, सुर्ख बुखार, डिप्थीरिया, कुकरखांसी, इन्फ्लुएंजा वगैरह महामारीकी भांति फैलते हैं। कारण, उन एक जगहके बसनेवालोंका खान-पान, रहन-सहन, उनका दोष-संचय प्रायः एक प्रकारका होनेसे बीमारी भी एक तरहकी आती है। पर इन महामारियोंमें सब रोगियोंके लक्षण समान नहीं होते। लक्षण और जोरमें अन्तर होता है। आज यहां और कल दूसरी जगह होनेका एकमात्र कारण मौसम है।

अब व्यापक महामारियां कम दिखाई देनेका सबसे बड़ा कारण यह है कि डाक्टरोंने मनुष्योंकी जीवनी-शक्तिको निकम्मा-अक्षम करनेका हुनर हस्तगत कर लिया है।

इसका अवश्यंभावी परिणाम बहुत बुरा हुआ है। ऐसे जीर्ण रोगोंने जड़ें जमा ली हैं, जो रोगीको मुद्दतों परेशान करके उसके प्राण लेते हैं। समय आनेपर ही लोग इस चीजको समझेंगे।

सारांश

(१) माता-पितासे सन्तानमें आनेवाले जीर्ण रोगोंका कारण माता-पिताके शरीरमें दोषका संचय है। जो लोग स्वस्थ संतान चाहते हों उन्हें इस दोष-संचयसे मुक्त होनेका प्रयत्न करना चाहिए। इसके कारण सारी नस्ल खराब होती है, जबकि छूतके रोगोंसे तो सिर्फ वही थोड़े लोग पीड़ित होते हैं, जिनके शरीरमें दोषके कारण उस ओर प्रवृत्ति होती है।

(२) शरीरमें दोष-संचयके बिना किसीभी दशामें छूतका लगना असंभव है। बिना दोषके प्रकुपित हुए कोई रोग नहीं होता।

छूतकी बीमारीसे बचने-बचानेकी काममें लाई जानेवाली सारी सुगंधियां और कृमिनाशक औषधियां तो दोषको निकालती

नहीं, बल्कि, सिर्फ वायुको बिगाड़ती हैं। इसके सिवा हमारी तंदुरुस्तीके एक पहरेदार, नाककी घ्राण-शक्तिको क्षीण कर देती हैं। रोगीके शरीरसे खारिज होनेवाली दुर्गन्धको भी वे पकड़ नहीं पातीं। शरीरमें थोड़ा-सा भी दोष-संचय प्रकोपका कारण हो सकता है। ऐसी दशामें कृमिनाशक औषधियोंसे गंदगी मिटानेका प्रयत्न व्यर्थ है। वास्तविक औषधि वही हो सकती है, जो शरीरको शुद्ध करती है—दोष-संचयको दूर करती है, यानी रोगके कारणको दूर करती है। यह औषधि कटिस्नान, मेहन-स्नान और भाप-नहान है। चिकित्साके समय प्रायः मुझे रोगियोंके गंदे श्वासोच्छ्वासमें सांस लेना पड़ा है और इसके बाद, मेहन-स्नान लेनेपर वही दुर्गन्ध मेरे अपने शरीरसे निकली लेकिन बहुत हल्की मात्रामें। इस स्नानसे शरीरकी जीवनी-शक्तिमें इतनी वृद्धि हो जाती है कि इससे बीमारीके सूक्ष्माति-सूक्ष्म कण भी शरीरसे बाहर निकल जाते हैं। यह सादा उपचार हमें सब प्रकारकी महामारियोंसे बचाता है।

हर तरहकी बीमारीसे बचनेका एक ही उपाय है सफाई और वह सफाई सिर्फ ऊपरसे नहीं, जितनी ऊपरसे, उतनीही भीतरसे भी होनी चाहिए। लोग समझते हैं कि रोगके भिन्न-भिन्न लक्षणोंके कारण भी भिन्न-भिन्न होने चाहिए, पर वह यह भूल जाते हैं कि प्रकृति प्रायः एक ही वस्तुको भिन्न-भिन्न रूपोंमें दिखाती है पशु-पक्षियोंमें, कीड़े-मकोड़ोंमें, तितलियोंमें, बादलोंमें, तथा फूलोंमें कितने प्रकार होते हैं ?

अब महामारियोंकी रोकके लिए किये जानेवाले उपायोंपर हम एक दृष्टि डालें। एक रोगाक्रांत स्थानका संबंध दूसरेसे छिन्न कर दिया जाता है। फेनाइल और कारबोलिक लोशनोंकी

(आज डी.डी. टी) भरमार करके माना जाता है कि यह छूतके जंतुओंको नाश कर देंगे। शायद ही किसीको छूतके रोगियोंके देखनेका मुझसे ज्यादा मौका मिला हो। मैंने डिप्थीरिया, सुर्ख बुखार, खसरा, चेचकसे ग्रस्त रोगी और निरोगी भाई-बहनोंको एक ही बिस्तरपर पड़े देखा है। गरीबीके कारण दूसरा बिस्तर संभव नहीं था। पर निरोग बच्चेको छूत नहीं लगी, क्योंकि उसके शरीरमें दोष-संचय नहीं था। दूसरी ओर, मैंने अलग-अलग रखे गये बच्चों को भी, एकके बाद एकको आक्रांत होते देखा है। मैंने बच्चोंके चेहरे देखकर ही माता-पिताको पहलेसे सचेत कर दिया था कि इस बच्चेका आक्रमण इन-इन बच्चोंपर भी होना संभव है। इससे हमें डाक्टरोंकी छूत रोकनेके उपायकी व्यर्थताका पता चलता है। हम प्रकृतिकी ओर देखें तो जंगलमें एक पुराने वृक्षको घुन या कीड़ोंसे खाते और उसीके पड़ोस-में नया पौदा पनपते पाते हैं। वे कीड़े उसकी कुछ भी हानि नहीं कर पाते। क्यों? इसलिए कि पुराने पेड़में उनके खानेका सामान है, नयेमें नहीं। यह तत्त्व समझमें आ जानेपर लोग महामारियोंसे फिर इतना नहीं घबड़ायेंगे।

: ४ :

गठिया, आमवात, गृध्रसी, कुबड़ापन आदि

गठिया सरीखे दुखदायी और फैले हुए रोगके बारेमें अलगसे कुछ कहनेकी आवश्यकता जान पड़ती है। पहले सिर्फ बूढ़ोंको ही गठिया होती थी और सो भी मर्दोंको। लेकिन आज इससे न बूढ़ा बचा है, न जवान, न मर्द, न औरत। बल्कि, बच्चोंको यह ज्यादा होने लगी है। अबतक इसकी सैकड़ों दवाइयां निकल जानेपर भी रोग बढ़ा ही है। गठिया शरीरके किसी भागमें भी हो सकती है। पर गांठोंमें होनेवाला दर्द तो असह्य ही होता है।

इस संबंधमें लोग प्राय: एकही बात कहते सुने जाते हैं, "मुझे ठंड लगनेसे गांठोंमें दर्द हो गया।" सिर्फ गठिया ही नहीं, अनेक बीमारियोंका कारण ठंड या मौसमको ठहरा दिया जाता है। लोग यह नहीं सोचते कि ठंड एकको ही क्यों लग गई? आइए, ज़रा ठंड लग जानेके सिद्धांतपर विचार करें। कल्पना कीजिए कि जाड़े-का मौसम है, बादल छाये हुए हैं और हम सौ सिपाहियोंकी एक ऐसी टुकड़ीको दो-तीन दिनकी यात्रापर बाहर भेजते हैं, जिन सब-की उम्र, स्वास्थ्य और ढांचा लोगोंकी दृष्टिसे एक-सा है। पर जब सब लौटकर आयेंगे तब सबके स्वास्थ्यपर परिणाम भिन्न-भिन्न प्रतीत होगा। कुछ कफकी शिकायत करते मिलेंगे, कुछ सर्दी-जुकाम की, कुछ दांतके दर्दकी, कुछके जोड़ोंमें दर्द होगा। लेकिन उनमेंसे अधिकांश भले-चंगे लौटेंगे, बल्कि कुछ तो अपनी किसी बीमारी-

से—जैसे सिरदर्द वगैरहसे—मुक्त होकर लौटेंगे। शिकायतें सब मौसमके मत्थे मढ़ी जायंगी। और यह सही भी मालूम होगा। सब खुद यही अनुभव करेंगे कि बाहरकी हवा लग जानेसे हुआ। लेकिन, पहला कारण बिल्कुल गलत माना जाना चाहिए। इससे बढ़कर गलत दुनियामें दूसरा कारण क्या ढूंढ़ा जा सकता है कि वही ऋतु एक ही समयमें एक आदमीको बीमार करती है, एकको अच्छा।

रोगातुर मानवको किसीने कभी यह समझानेकी कोशिश नहीं की कि रोग क्यों होते हैं? यदि समझाने बैठे तो गलत-ही-गलत समझाते गये, जिसके परिणामस्वरूप रोगोंकी वृद्धि ही होती रही।

गठिया प्रायः शरीरके एक हिस्सेको, यानी एक पैरको, एक हाथको या एक कंधेको प्रभावित करती है। केवल यही एक चीज यह साबित करनेको काफी होनी चाहिए कि मौसमका इससे कोई संबंध नहीं है। मौसमका प्रभाव सिर्फ एक अंगपर ही क्यों पड़ता है? पड़े तो दोनों पैरोंपर, दोनों हाथोंपर, दोनों कंधोंपर पड़ना चाहिए। आदमी कहता है कि मैं आज वहां खिड़कीके पास बैठा था, इससे मेरे हाथको सर्द हवा लग जानेसे दर्द होने लगा। अक्सर खिड़कीके सामने उसका बायां रुख होता है और दर्द दाहिने रुखमें होता है, जिसपर हवाकी फटकार लगनेकी कोई गुंजाइश ही नहीं थी।

गठियाके मरीजकी सूक्ष्म जांच करनेपर उसे ज्वर भी मिलेगा, और दर्दवाली जगहमें जलन और सूजन भी। उसकी पाचन-क्रिया भी अव्यवस्थित मिलेगी। इसके सिवा, गठियामें—विशेषतः ग्रंथिल गठियामें दाह सदा एक खास हिस्सेमें प्रकट होता है। ये

लक्षण हमें रोगके कारणके पास पहुंचाते हैं। हम ज्वर, दाह और अपच इन तीन लक्षणोंपर विचार करें। मैं कह चुका हूं कि जोड़ोंकी गठियामें पीड़ा हमेशा खास-खास हिस्सेमें होती है। यह आश्चर्य है कि मेरे विशाल अनुभवमें एक बार भी मैंने यह नहीं देखा कि ग्रंथिल गठियामें खास दर्द जोड़के नीचेके सिवा कहीं अन्यत्र होता हो, यानी घुटनोंके ऊपर कभी नहीं होता, जब होता है नीचे ही होता है। यह कोई संयोगकी बात नहीं है, इसका विशेष कारण होना चाहिए।

संचित दोषकी प्रकोपावस्थामें प्रकृति बिना बुखारके भी शरीरसे दूषित द्रव्य निकालनेकी कोशिश करती है। उस समय शरीर दोषसे भरा होता है। प्रौढ़ोंमें आमतौरसे यही होता है। इस दशामें तापमानके यकायक गिरनेपर द्रव्य जहांसे चला है, फिर उधर लौटने लगता है। गरमीसे वस्तुएं फैलती और ठंडसे सिकुड़ती हैं। यह व्यापक प्राकृतिक नियम मनुष्य-शरीरपर भी लागू होता है। ज्वरमें हम शरीरको फैलता और ठंडमें सिकुड़ता पाते हैं। यह सिकुड़न उसमें संचित दोषपर जोर डालती है तथा उसमें एक गति पैदा करती है और दोषको अपने असली स्थान—पेड़ूकी ओर वापस भेजती है। जोड़के मुकामोंपर दोषके संचित होजानेसे उसके लौटनेकी क्रियामें बाधा पड़ती है, क्योंकि जोड़में निरंतर हिलने-डुलनेके फलस्वरूप हरकत होती रहती है। बाधाके कारण इधर-उधर दबाव पड़नेसे जलन होती है और जोरकी पीड़ा होने लगती है। द्रव्य लौटनेके मार्गपर रहता है, इसलिए जलन और दर्द हमेशा जोड़ोंके निकट प्रकट होते हैं, यानी घुटने, कंधे आदिके नीचे।

अब हम उन सौ सिपाहियोंकी टुकड़ीमेंके भिन्न-भिन्न आद-

मियोंके शरीरोंपर भिन्न प्रभाव पड़ने का ठीक कारण समझ सकते हैं। बीमारीका वास्तविक कारण शरीरके भीतर होता है, मौसम तो शरीरमें सक्रियता लानेभरका काम करता है—सुप्त दोषको जागृत कर देता है, उसे उग्र रूप दे देता है। रोग—लक्षण शरीरके उन्हीं हिस्सोंमें प्रकट होते हैं कि जिनमें थोड़ा-घना दोष मौजूद होता है।

गठियाकी सिर्फ स्थानीय पीड़ाका उपचार फजूल है। पीड़ाके स्थानपर भाप देनी चाहिए, पर सारे दोष-संचयको धीरे-धीरे खींचकर उत्सर्ग-द्वारोंपर लाकर उन्हें निकालने का उपाय करना मुख्य काम होगा। केवल गठियाके लिए ही नहीं, इस प्रकारके सारे दर्दोंके लिए यही करना होगा। दोषके उलटकर जाने या निकलनेके मार्गमें बाधा होनेसे ही दर्द होता है। सारे दर्द, जलन, दबाव, वे चाहे जिस प्रकारके हों, रगड़से—घर्षणसे—पैदा होते हैं।

मैंने पहले एक दिशामें दोष-संचयकी बात कही है। यह सही है कि एक तरफका रोग एकतरफा दोष-संचयका परिणाम होता है, पर वास्तवमें नियमतः दोष-संचय बिल्कुल एकतरफा ही नहीं होता है। लेकिन शुरू होता है वह प्रायः एक तरफ ही, और उधर पूरा-पूरा न भर जाने तक एक तरफ ही रहता है। फिर दूसरी तरफ जमा होना शुरू होता है। लेकिन पहली तरफ बहुत दिनों तक ज्यादा रहता है। एक साधारण उदाहरण से समझें—हम रातको दो बोतल सादे पानीसे भरकर, पट रख दें। सुबह देखनेपर उनमें कोई फर्क न मालूम पड़ेगा। पर उन्हीं बोतलोंके पानीमें थोड़ी मिट्टी घोलकर रख देनेपर आप देखेंगे कि जिधरसे बोतल पट की गई है उधर नीचे पानीमें मिट्टी

जमा हो गई है और उसके ऊपरका पानी साफ है। अब दूसरे दिन अगर हम उस मिट्टीमें कोई तत्काल खमीर उठनेवाली चीज मिला दें और फिर रातभर पड़ा रहने दें तो भी हालत वही मिलेगी। पर यदि बोतलका मुंह खोल दें और उसे किसी गरम स्थानमें रखदें तो भीतर, जहां वह कीचड़ जमा है, उस ओर खमीर का काम शुरू हो जायगा। खमीर, जिधर मिट्टी जमा है, यानी बोतल पट है, उस रुख उठने लगेगा और उसी रुखसे निकलेगा।

बिना कोई खमीरी द्रव्य डाले, खमीरका काम अपने-आप

भी हो सकता था, लेकिन वह मौसमकी तबदीली पाकर होता और उसके लिए हमें अधिक समय तक बाट देखनी पड़ती। आप बोतलके बदले एक रबरकी थलीकी कल्पना करें। इसमें जब खमीर उठने लगेगा तो जिधरको थैलीमें खमीर उठेगा उधर थैलीपर दबाव पड़ेगा और वह फूलेगी। शरीरके साथ भी यही बात होती है। हम जिस करवट सोते हैं उसी ओर दोष-संचय झुकता है।

पूर्ण स्वस्थ व्यक्तिको देखकर यह अंदाज नहीं किया जा सकता कि वह किस करवट सोता है। वह रातको दाएं या बाएं, किसी

करवट सोए, उसके शरीरमें कोई फर्क नहीं पड़ेगा। पर शरीरमें दोष-संचयकी अधिकता होनेपर जिस करवट वह अधिक सोयेगा उधरको दोष-संचय झुक जायगा और वह स्थान उभर आयेगा, जिससे दोषका पता लगेगा और उसके सोनेकी आदतका भी। दोष-संचय अधिक हो जानेपर इसका बंटवारा और प्रसार अधिक नियमित होता है। तब इतनी बेचैनी होती है कि रोगी एक तरफ सुखसे नहीं पड़ा रह सकता, इधर-उधर करवटें बदलता रहता है।

एक दिशाके खास तौरसे दोष-भाराक्रांत हो जानेपर यह दिशा दूसरे अंगकी अपेक्षा सहज ही अधिक पीड़ित होगी। इससे अब पाठककी समझमें आ जाना चाहिए कि दाहिने हाथमें ठंड लगी और पीड़ा बाएंमें क्यों हुई ?

मनुष्य-शरीरमें एक तरफ भार—दोष-संचय—बहुत जल्द नहीं होता—वर्षों लगते हैं। पर प्रायः बच्चे एक तरफ भार लिये हुए ही पैदा होते हैं। कारण, दोषाक्रांत माता गर्भावस्थामें जिस करवट सोनेकी आदी होती है, उधर बच्चेके शरीरमें भार होता है अथवा बच्चा गर्भाशयमें जिधरको झुक जाता है उसके शरीरकी उस दिशामें भार जमा हो जाता है। इससे हम पैर, हाथ या दांतमेंके एक तरफके दर्दका कारण ठीक समझ सकते हैं।

गठियामें एक तरफ या दोनोंतरफका हाथ या पांवका—केहुनी या घुटनेके नजदीकका—हिस्सा सूजा रहता है, उसकी शक्ल कुछ बदली हुई रहती है। पर इसके सिवा, रोगियोंके शरीरमें अन्य स्थानों, जैसे कंधे, रीढ़, जांघ, कमर आदिके पास भी, एक तरफ, या दोनों तरफ, कुछ सूजन पाई जाती है। अंगोंमें असमानता, शरीरके किसी एक हिस्सेमें अथवा एक साथ कई हिस्सोंमें भी मिल सकती है। प्रायः अनेक भागोंमें देखी जाती है। इस सूजन

या असमानताके संबंधमें अब आप स्वयं कह सकते हैं कि शरीरके उन-उन भागोंमें दोष-संचयके कारण ही यह असमानता आई है। इसे गठियाका बाहरी रूप कह सकते हैं।

ऊपर कहा गया है कि इस प्रकार शरीरके एक स्थानमें दोष जमा होकर सूजन या असमानता पैदा होनेमें वर्षों लगते हैं। कभी-कभी तो दोष संचित होनेपर कोई उग्र रोग आकर उस दोषको निकाल देता है और आई हुई थोड़ी असमानता गायब हो जाती है। पुनः दोष-संचयका कारण उपस्थित होनेपर वहां दोष जमा होने लगता है। इस प्रकार शरीरके भाग-विशेषमें विकृतिके पूर्ण होनेमें लंबा समय लगता है। वही दोष-संचय जो एकके शरीरमें चेचकके रूपमें व्यक्त होता है, दूसरेके मियादी बुखारके, और तीसरेके गल-घोंटूके रूपमें प्रकट होता है। दोष-संचय ही शारीरिक विकृतियों (Deformities) का कारण भी होता है। अच्छी जीवनीशक्ति (Vitality) रखनेवाले व्यक्तिमें उग्र रोगोंके रूपमें इस दोष-संचयके देहसे बाहर हो जानेपर शरीरमें विकृति (बांक) आनेकी संभावना नहीं रहती। अधिकतर दोष-संचय शरीरके अत्यल्प क्रियाशील भागमें होता है। क्रियाशील भागमें हुआ भी तो, वहांसे खिसककर वह निष्क्रिय भागकी ओर खिंचता है। उस भागमें कुछ कष्ट—बेआरामी—बेचैनीका अनुभव होता है। एक तरफ सोने या ज्यादा देरतक एक तरफ बैठे रहनेको इसका कारण कहा जाता है पर यह कारण गलत है।

देहातियोंको खेतमें सारा दिन झुके-झुके काम करते देखा जाता है और सीधे तनकर खड़े होनेपर उनके शरीरमें कहीं झुकाव—तनाव नहीं पाया जाता। हां, स्वस्थ न होनेकी दशामें दोष-संचय-की दिशा-विशेषमें बराबर काम करते रहनेका असर उनके शरीर

पर प्रकट होगा। बहुतेरे अपनी इस प्रकारकी शारीरिक विकृतिको—बेडौलपनेको शुरू-शुरूमें दर्जीकी मददसे कपड़ोंके नीचे छिपानेकी कोशिश करते हैं, लेकिन अधिक दिनोंतक यह संभव नहीं होता।

इस प्रकार आई हुई शारीरिक विकृतिमें बड़ी भिन्नता पाई जाती है। पेशा, आदतें, सोनेमें करवट और अधिकतर दिन-भरके रहने-सहने और चलने-फिरने आदिके ढबके कारण शरीरमें यह फर्क पड़ता है। लेकिन हमें दो आदमी एकसे ढांचेवाले मुश्किलसे मिलेंगे। फिर भी मनुष्य-शरीरका एक साधारण ढांचा (समप्रमाण) होता है। मैं उन्हें कुछ चित्रों द्वारा पाठकोंके सामने रखूंगा। आकृति 'क' लगभग स्वस्थ मनुष्यके पिछले हिस्सेकी आकृति है। इसमें सब भाग समप्रमाणमें (well proportioned) हैं। कोई भाग अनु-

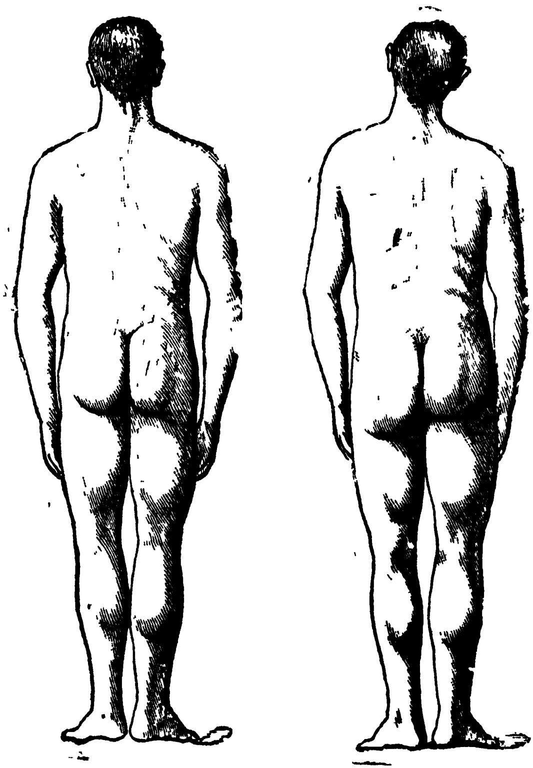

क ख

पातसे लंबा-ठिगना नहीं है,न मोटा-पतला। सारे हिस्से सुडौल हैं।

आकृति 'ख' में भिन्नता दिखाई देगी। नजर फौरन बायें हिस्सेपर जायगी। पुट्ठा ऊपर-नीचे दोनों तरफ निकला हुआ है। पहले पुट्ठे ही प्रभावित होते हैं, क्योंकि दोष हमेशा पेड़ू से चलता है और इसलिए परिवर्तन हमेशा उसके निकट आरम्भ होता है। कंधोंमें असंगतता (Deformity) आनेमें तो वर्षों लग जाते हैं। यदि किसीके स्वयंके या उसके घरवालोंके ध्यानमें पेड़ूके निकट शरीरमें होनेवाली अननुरूपता (बेडौलपना)आ जाय और वह आगे आनेवाले खतरेको समझ जायं तो वे अवश्य उसकी चिकित्सा करानेमें देर न करेंगे। पर न करानेके लिए किसीको दोषी नहीं ठहराया जा सकता। इसलिए कि किसी दवामें इस दशामें छुटकारा देनेकी शक्ति नहीं है। दरअसल तो इस दशाको रोग माना ही नहीं जाता। इस प्रकार विकृति-प्राप्त रोगीको विकलांग कहकर छुट्टी पा ली जाती है। लेकिन यह विकृति कैसे आई, क्यों आई, इस प्रश्नपर पहले कभी विचार ही नहीं किया गया। पर मेरी नई विधि इन दशाओंसे छुटकारा दिलानेमें पहलेवालोंकी भांति असमर्थ नहीं है। कितनोंकी ही शारीरिक विकृतियां इससे ठीक हुई हैं। मेरे सिद्धांत कसौटीपर कसे जाकर खरे उतर चुके हैं।

चित्र 'ख' में दोष, शरीरमें खासकर बाईं ओर इकट्ठा हुआ है और इससे वह हिस्सा उसी तरह बढ़ गया है जैसे किसी रबड़की थैलीमें प्रकुपित द्रव्यके एकतरफ इकट्ठा होनेपर थैलीका उधरका हिस्सा फूल जाता है। दोषको प्रकुपितावस्थामें अधिक स्थानकी आवश्यकता होती है और बाहर निकलनेका मार्ग न पानेपर, बराबर दबावके कारण वह इस या उस दिशामें, अपनी सुविधानुसार बढ़ता है। अब यदि प्रकुपित द्रव्य, जैसाकि हम इस आकृतिमें देख

रहे हैं, केवल बायें भागमें है तो वही भाग असाधारण रूपमें फैलेगा।

मेरी निदानकी नई पद्धति यानी 'मुखाकृति विज्ञान' प्रणालीको अपनाकर यह दशा बिल्कुल शुरूसे पहचानी जाकर उसका

क

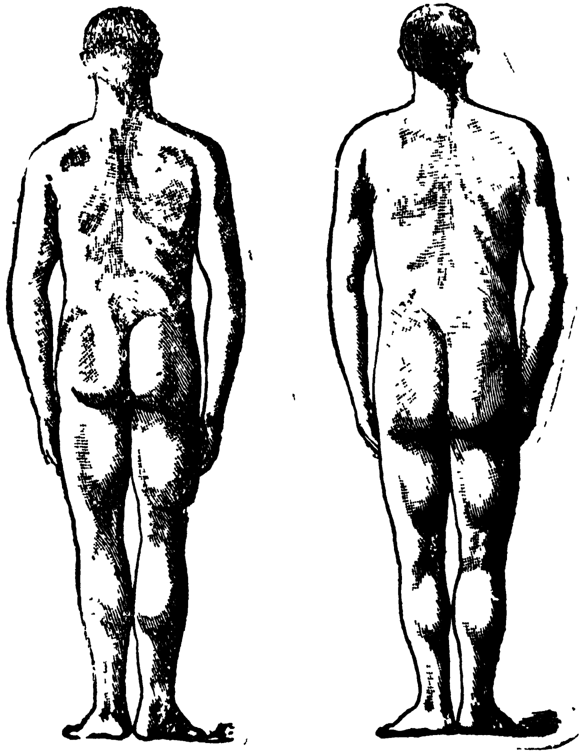

ग

सही इलाज किया जा सकता है, अर्थात् दोषको निकाला जा सकता है। बाईं ओरके पुट्ठोंके पूरे फैलनेके पूर्व ही गलेकी बाईं दिशाको देखकर इस दशाका अनुमान किया जा सकता है। और जब हमने

रोगोंकी एकताका सिद्धान्त समझकर जान लिया कि यह शारीरिक विरूपता भी उसी दोष-संचयका परिणाम है, जिसके कारण मियादी बुखार, गलघोटू वगैरह होते हैं, तो हमारे लिए ऐसी विरूपताओंको रोकना और दूर करना आसान हो जाता है।

अब आकृति 'ग' को देखिए। उसमें दोनों ओरके पुट्ठे बढ़े हुए हैं। 'क' से मुकाबला कीजिए। पहली नजरमें आप फर्क-को शायद ताड़ न सकें। लेकिन 'क' आकृतिसे मिलानेपर तुरंत पता चल जाता है कि आकृति 'ग' में सारा धड़ भी लंबा होगया है, खास तौरसे निचला हिस्सा। पांव और गर्दन बहुत छोटे रह गए हैं। क्योंकि बीचमें गर्दन बहुत तंग होगई है। इस आकृतिमें पुट्ठोंपर दोष-संचय केवल एकतरफा न होकर समान भावसे फैला है। इससे पुट्ठेका पूरा भाग समान रूपसे दोनों ओर दोष-संचयसे लंबा होगया है। प्रायः देखा जाता है कि दोष गर्दनसे होकर सिरकी ओर बढ़ता है। इसकी वजहसे सिरकी आकृति भी बेडौल हो जाती है।

लेकिन कभी-कभी इससे बिल्कुल विपरीत, हाथ, पैर अधिक लंबे और मुकाबलेमें धड़ कोताह पाया जाता है। कारण, आरम्भमें दोष सिरकी अन्त्य-सीमाकी ओर बढ़ा, जिसकी वजहसे धड़, हाथ-पांवकी तुलनामें तंग रह गया।

प्रचलित साधारण चिकित्सा-विधियोंसे इन आकृतियोंमें संगति-संपन्नता लानेकी बात तो सोचना भी मुश्किल है। हां, मेरी विधियोंका दीर्घकालतक निरंतर उपयोग करनेसे आकृति अवश्य अपनी असली हालतमें आ सकती है। पर शरीरकी जीर्णावस्थामें, आवश्यक जीवनीशक्तिका अभाव होनेपर, पूर्ण परिवर्तन नहीं हो-पाता।

आकृति 'घ' में दोष-संचयके कारण पीठ निकल आई है,

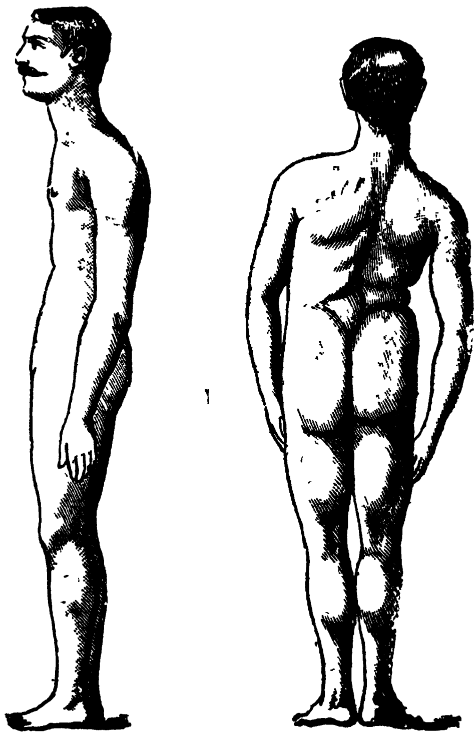

घ ङ

जिससे छातीका स्वाभाविक विकास रुक गया है और वह स्पष्टरूपसे चिपटी होगई है, मानों छातीको पीठपर लगा दिया हो। पीठका भार हल्काकर देनेपर छाती विकसित होने लगेगी। अवश्य ही इस आकृतिमें भी पुट्ठोंमें दोष-संचय बहुत पहलेसे होगया था। इस दशामें भी पेड़ू हमेशा बढ़ा हुआ या अधिक सख्त पाया जाता है। कभी-कभी दोष-संचय ठेठ बचपनसे आरम्भ होता है या बच्चा

गर्भमेंसे ही दोष लिये हुए आता है। चार या पांच सालकी उम्रके लड़कोंकी पीठ गोल और छाती चिपटी पाई जानेका यही कारण होता है। इस अवस्थामें तो दोषको बहुत शीघ्रता और सरलतासे दूर किया जा सकता है। नये शरीरमें जो लाभ महीनेभरमें होता है, वृद्ध शरीरमें उसके लिए एक साल लग जा सकता है। तरुणावस्थामें जीवनीशक्तिकी अधिकताके कारण लाभ शीघ्र होता है।

पहले बतला आये हैं कि इन विकृतियोंको आरंभमें ही कैसे रखा जा सकता है। मेरी 'मुखाकृति निदान' प्रणालीकी सहायतासे यह काम आसानीसे हो सकता है। दोष-संचय जब-तब बिल्कुल अनियमित राह पकड़ता है, एक तरफ बढ़ते-बढ़ते दूसरी तरफ बढ़ने लगता है और फिर उसी ओर वापस लौट आता है। आकृति 'ङ' में देखनेपर दोष पहले विशेष करके बाईं ओर एकत्र हुआ है, लेकिन बीचमें ही, वहां एक अंगकी रुकावटके कारण उसका मार्ग अवरुद्ध होगया और इससे वह दाहिनी ओर जानेको बाध्य होकर फिर उसी दूसरे हिस्सेकी ओर लौट गया। स्पष्ट रूपसे पूरा दाहिना भाग ऊपर, नीचे दोनों ओर लंबा दिखाई देता है। बीचमें दाहिनी दिशामें मुड़ गया है। रीढ़में इसकी वहजसे खम (बांक) आ गया। वास्तवमें यह पैतृक दोष-संचयके परिणामस्वरूप हुआ है। इसे किसी बंधन या पलस्तर द्वारा सीधा या सही करनेकी कोशिश व्यर्थ है। संचयके लिए तो स्थान जरूरी है। मैंने अक्सर देखा है कि यदि हमने कूबड़को किसी तरह जबरदस्ती दबाया तो दोष-संचय तत्काल छातीकी ओर एकत्र होने लगा। पीछेका दोष सिर्फ आगे आ गया। आवश्यक स्थान तो उसने घेरा ही।

प्रायः दोष गर्दनसे होकर आगे बढ़ता है और सिरमें एकत्र

होता है। मैं पहले बतला चुका हूं कि इसके कारण सिरमें किस प्रकार ठंड लगती है। बच्चोंमें इसके कारण सिर असाधारण रूपसे बड़ा हो जाता है। अनुपातसे बड़ा सिर गंभीर जीर्ण रोगका चिह्न है। गर्भसे बाहर आनेके पहले ही ऐसे बच्चोंका सिर बड़ा हो जाता है और इनके जन्म लेनेमें माताको भारी तकलीफ होती है। कहा जाता है कि बड़े सिरवाले बच्चे लंबी उम्र नही पाते, पर इसका असली कारण लोग नही जानते।

च

आकृति 'च' में दोष-संचय बिल्कुल पीठके बीच में है और इसकी वजहसे कमर बिल्कुल झुक गई है। इस तरहका संचय कम ही मिलता है, क्योंकि नियमतः दोष सिरोंकी ओर ही जाता है।

आकृति 'छ' और 'ज'। कई कुबड़े अपनी विकृतिके कारण कमर झुकाकर चलते हैं। बहुत करके उनकी रीढ़में संपूर्ण रूपसे खम पाया जाता है। इसमेंसे अधिकांशका कारण पैतृक दोष-संचय होता है।

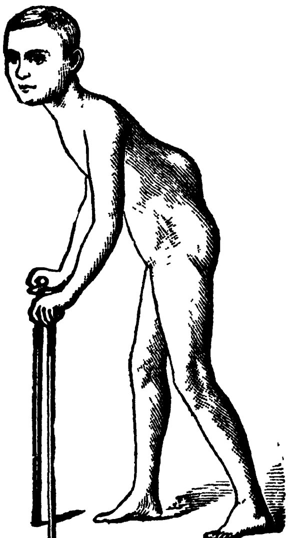

छ

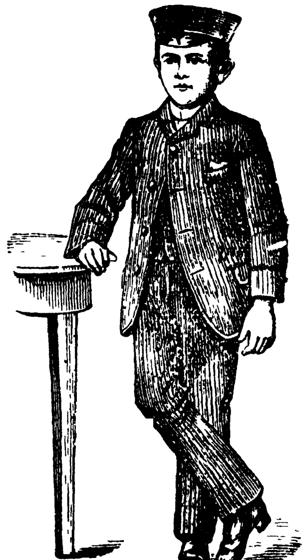

ज

ऊपर एक १३ सालके लड़केके दो चित्र हैं, जो मेरे पास आया तब दो लकड़ियोंके सहारे मुश्किलसे चल पाता था। उसपर सारी दवाइयां आजमाई जा चुकी थीं। पीठका पलस्तर भी काफी समय तक बंधा रहा था। मेरी चिकित्सासे ६ महीनेमें वह लड़का बिना किसी सहारेके सीधा होकर चलने लगा। दूसरा चित्र उसके अच्छा होकर जानेकी दशाका है।

इस प्रकारके बहुतेरे रोगियोंको मेरी चिकित्सा-विधिसे लाभ होना मेरे कथनकी सत्यताका निश्चित प्रमाण है। इन सबके लिए-भी चिकित्सा-विधि तो वही रही, जो दूसरे रोगोंमें रही है। पाठकों-को सुनकर आश्चर्य तो होगा कि कूबड़ और सर्दी, जुकाम सब एक ही विधिसे कैसे अच्छे किये गए। दूसरा कोई तरीका मैं अपना भी कैसे सकता हूं, जबकि रोगका कारण एक वही है। मेरी उपचार-विधिको लगनसे अपनानेपर रोगके लक्षणोंके दूर होनेमें शर्त सिर्फ यही है कि शरीरमें पूर्ण जीवनीशक्ति मौजूद हो और सम्पूर्ण नाड़ी-जाल अविच्छिन्न हो—उनपर काट-छांट न हुई हो ; जिसके कारण सुस्थता संभव हो सकती है। यहां मैं फिर कहना चाहता हूं कि कि मेरी **इस नई उपचार-विधिसे सारे रोग या कहिए रोगके स्वरूप अच्छे हो सकते हैं, पर सारे व्यक्ति नहीं।**

हाथ-पांव ठंडे और सिरके गरम रहनेका कारण

हम सुनते आये हैं कि "हाथ-पैर गरम, सिर रहे ठंडा, फिर बेकार है बैदका हथकंडा", यानी ऐसा व्यक्ति स्वस्थ है, उसके लिए डाक्टर-वैद्य अनावश्यक है। पर सिर गरम और हाथ-पैर ठंडे रहते क्यों हैं ? बिना बुखारके कोई बीमारी नहीं होती, या बिना बीमारी के —शरीरमें दोष न होनेकी दशा में—बुखार नहीं होता। इस दृष्टिसे सिर गरम और हाथ-पांव ठंडे रहनेकी दशामें भी शरीरमें ज्वर होना जरूरी है। शरीरके अन्य भागोंमें गरमी—ज्वर—होनेकी दशामें सिरका भी गरम रहना लोगोंको संगत लगेगा, लेकिन हाथ-पैरोंका ठंडा रहना भी ज्वरका लक्षण है,यह लोगोंकी समझमें मुश्किलसे आता है। पर दोनोंकी वजह एक ही है। **शरीरमें दोष-संचयके परिणामस्वरूप ही तो प्रत्येक रोग होता है।**

ज्वरसे यानी दोषके प्रकुपित होनेसे यह संचय पेड़ूसे शरीरके बिल्कुल अगले सिरोंपर अर्थात् सिर, हाथ, पांवमें पहुंचकर वहां एकत्र होता है। प्रकुपित द्रव्यके हाथ-पांवमें प्रवेश करनेमें उसे बड़ी रुकावटका सामना करना पड़ता है। दोष, पहले पावोंकी अंगुलियोंमें जमा होकर तब टखनोंमें जमा होता है, और फिर धीरे-धीरे पांवमें ऊपरकी ओर फैलता है। उस दोषके कारण वहां रक्तके संचारमें रुकावट पैदा होती है, जिससे वहांकी गरमी कम हो जाती है। यही हालत हाथोंकी होती है। बहुतोंके पहले तो अंगुलियोंके सिरे ठंडे रहते हैं,बहुतोंका एक पांव। फिर कई साल बीतते-बीतते वे पूरे पांवके ठंडे रहनेकी शिकायत करने लगते हैं। अंगुलियोंसे लेकर घुटनेतक ठंडक बनी रहती है। इस दिशामें गरम मोजे कोई मदद नहीं करते। रजाई, कंबल किसीसे पांवमें गरमी नहीं आती। इससे यह खयाल सही साबित होता है कि कपड़े शरीरको गरम नहीं करते, शरीर ही कपड़ोंको गरम करता है। शुरूमें, यदि गरम कपड़े ऐसे लोगोंकी ठंडकको दूर करते रहे हैं तो उसकी वजह यह थी कि उन अंगोंमें गरमी थी और कपड़े उसे बाहर निकलनेसे रोके रहते थे। उन भागोंमें, दोष-संचयकी दशामें, रक्तका नियमित संचरण धीरे-धीरे घटते जानेपर गरम-से-गरम कपड़े भी बेकार साबित होते हैं।

सिरकी हालत इससे बिल्कुल भिन्न है। मस्तिष्कमें रक्त अधिक परिमाणमें पहुंचता है, इसलिए यहां दोष-संचयके मार्गमें हाथ और पांवोंकी अपेक्षा अधिक रुकावट पड़ती है। इससे संघर्ष प्रबल होता है और परिणामस्वरूप गरमी पैदा होती है। हाथ-पांवोंको ठंडा करनेवाली चीज़ ही सिरको प्रथम दशामें गरम करती है। पर सिरकी गरमी भी देर-सबेर ठंडकमें परिवर्तित होजाती है।

मुझे ऐसे बहुत रोगी मिले हैं जिनके सिरमें बड़ी ठंड लगने लगीं थी। दोषके अधिक परिमाणमें सिरकी ओर बढ़ने लगनेपर कुछ समय बाद संघर्ष समाप्त हो जाता है और सिरमें भी ठंड आ जातीं है। मेरे इस दावेकी सचाई तो, इस आधारपर किये गए उपचारके द्वारा, होनेवाले लाभको देखकर समझी जा सकती है। यदि रोगी अपने हाथ-पैरोंकी ठंड और सिरकी गरमीको दूर करना चाहे तो उसे उपचार उस स्थानसे शुरू करना चाहिए, जहांसे दोषका प्रकोप आरम्भ हुआ है, यानी पेड़ूसे। इसके लिए पाचनक्रियाको सुधारना भी आवश्यक है। तब हाथ-पैरोंमें गरमी आयेगी और सिरमें ठंडक। हजारों रोगियोंपर यह बात आजमाई जा चुकी है और रोज आजमाई जा रही है। इतना मैं और जोड़ दूं कि जिन्हें हाथ-पैरोंके ठंडे रहनेकी शिकायत है, उन्हें आगे गठिया होनेका खतरा समझना चाहिए।

मुखाकृति-विज्ञान

मेरी चिकित्सामें प्रायः ऐसेही बीमार ज्यादा मिले हैं, जिनपर पहले दूसरे सारे इलाज असफल सिद्ध हो चुके थे। उन मरीजोंसे मैं डाक्टरोंके ऐसे ऊटपटांग निदानोंके बारेमें सुनता कि बहुत लोग उनपर शायद ही विश्वास करें। एक बार मेरे पास एक बड़े लंबे-तगड़े आदमीने, जिसे लोग तन्दुरुस्तीका नमूना ही कहेंगे, आकर कहा, "मुझमें काम करनेकी शक्ति बिल्कुल नहीं रह गई है।" अनेकानेक डाक्टरोंने उसे भली प्रकार देख-सुनकर—ठोंक-बजाकर—अंतमें फैसला दिया था कि इसे कोई रोग नहीं है, वह बिल्कुल तन्दुरुस्त है। उसे सिर्फ वहम है रोगका, और कुछ नहीं है। उपचार यह बतलाया कि कहीं घूमने-फिरने चला जाय, इससे उसके मनसे बीमारीका खयाल निकल जायगा और वह चंगा हो

जायगा। मरीजको इनकी सलाह अपनाकर भी कोई लाभ न हुआ। मेरी तो उसकी गर्दन और सिरपर नजर पड़तेही,और गर्दनको ध्यान-पूर्वक देखकर सिरको दाएं-बाएं घुमाते ही, मुझे मालूम होगया कि उसका शरीर दोषसे परिपूरित है। मैंने उसे अपना साधारण उपचार बतला दिया। डेढ़ महीनेमें ही उसके शरीरसे बहुत दोष बाहर हुआ और उसमें काम करनेकी शक्ति लौट आई। उसने मुझे धन्यवादका पत्र लिखा। पाठक ही फैसला करें कि किसका निदान अधिक व्यावहारिक साबित हुआ? मेरे सामने तो रोजही अनेक ऐसे मरीज आते रहते हैं जो अपनी दृष्टिमें बहुत बीमार होनेपर भी डाक्टरकी निगाहमें स्वास्थ्यकी मूर्त्ति हैं। ऐसे मरीज डाक्टरी निदानसे प्रायः घबराते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि डाक्टर जांचनेके बाद उनके रोगको एक वहम करार देगा। ऐसे मरीजोंको देख-देखकर ही डाक्टरी निदानके अधूरेपनका पता चलता है।

एक योग्य चिकित्सक—सर्जन—डाक्टरने मुझसे कहा कि शव-च्छेदके बाद अक्सर उसके मनमें यह द्विविधा पैदा होती है कि यह रोगी अमुक-अमुक बीमारीसे क्यों मरा, उसके शरीरके भीतरी और बाहरी अंग-प्रत्यंग ठीक दशामें थे, कहीं बीमारीका कोई ज़रा-सा भी चिह्न दिखाई नहीं देता था। मैंने कहा कि मरनेके बाद चीर-फाड़कर रोगका पता लगानेकी कोशिश तो गलत काम है। मुर्देको लेकर रोगकी जांच मेरेलिए तो बिल्कुल बेकार है, मैं तो जीवित शरीरकी क्रियासे रोग पकड़ता हूं। मानिए, कोई आदमी एक सिलाईकी-मशीन खरीदने जाय और दूकानमें खूब रंगी-चुंगी, चमकती मशीनें सजी हुई देखे तो क्या पता चलेगा कि इनमें अच्छी कौन है? उसे देखनेमें सब मशीनें ठीक लगेंगी, लेकिन उनका गुण-दोष तो चलनेपर ही मालूम होगा। बिना चलाकर

देखे तो मशीन बेकार है। इसलिए उसे चलते हुए देखना जरूरी है। ठीक यही दशा मानव-शरीरकी है। निष्क्रिय शरीरको यानी मरनेके बाद देखकर बीमारीका पता लगाना असंभव है। जीवित-शरीरमें प्रत्येक इन्द्रियकी क्रियाकी जांच की जा सकती है, पर मुर्दे-में कोई क्या देख सकता है ?

उपर्युक्त वर्णनसे पाठक रोगोंकी एकताका सिद्धान्त समझनेके साथ ही यह भी समझ सकेंगे कि डाक्टरीका निदान और रोगोंके नाम तथा स्थानोंका विवरण कैसा भ्रमात्मक है और उपचारकी दृष्टिसे कितना बेकार। उनपर भरोसा करके भटकनेके सिवा कुछ हाथ नहीं लगता। तन्दुरुस्त या बीमारकी जांचमें इतना ही देखना बस है कि शरीर दोष-रहित है या दोष-पूर्ण और यह दोष शरीरमें कैसे और कबसे आया है। यदि हम यह समझ लें तो हम यह भी जान सकेंगे कि उपचारमें कितना समय लगेगा।

: ५ :

रोग-निवृत्तिके साधन

भाप-नहान, कटि-स्नान, मेहन-स्नान

रोगोंकी एकताका सिद्धान्त समझ लेनेपर तो यह समझना आसान है कि उनका उपचार भी एकही तरहका होना चाहिए।

भाप-नहान : त्वचाको सक्रिय करनेमें भाप-नहान अत्यन्त उपयोगी साधन है। स्वस्थ रहना या स्वस्थ होना चाहनेवालोंके लिए यह अनिवार्य वस्तु है।

पूर्ण भाप-नहान : रोगीको सुतलीकी बिनी खाटपर लिटाकर

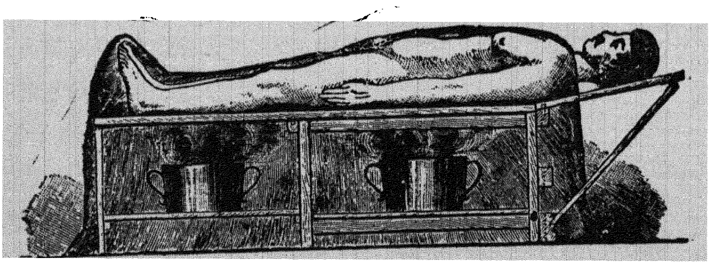

या बेतकी बुनी कुर्सीपर[1] बिठाकर दिया जा सकता है या बेतका बुना हुआ खटोला[2] भी काममें लाया जा सकता है।

---

[1] कुर्सीपर भाप-नहान देना हो तो एक टोपिया कुर्सीके नीचे और एक पांवके नीचे रखना चाहिए। पांवके नीचेवालेपर एक लकड़ी रख-कर उसपर पांव रखना चाहिए।

[2] इसके लिए कई तरहके बक्स वगैरह बने हुए मिलने लगे हैं।

चित्रमें एक खटोला दिखलाया गया है। यदि इसपर लिटाकर भाप देनी हो तो रोगीको पहले आधसेर गरम पानी पिलाकर, इसपर बिल्कुल नंगा लिटाकर, कंबलोंसे ढंक दें। कंबल रोगीके शरीर और खटोले—दोनोंको ढक लेनेवाला होना चाहिए, जिससे भाप कहींसे इधर-उधर न निकलकर सीधे रोगीके शरीरमें लगे। फिर कंबल हटाकर खटोलेके नीचे रोगीकी (१) पिंडली (२) पुट्ठे और (३) कमरके नजदीक उबलते पानीकी एक-एक पतीली रख दें। रखते समय पतीलियां ढकी रहें, नहीं तो भाप निकल जायगी। रखनेके बाद ढकने उठा लें। अब रोगीके शरीरमें भाप लगनी शुरू हो जायगी। इस समय रोगीका मुंह कंबलसे ढका रखें। चार-पांच मिनटके बाद मुंहका कंबल सरकाकर गलेपर कर दें। भाप खुले स्थानमें न दें, न एकदम दमघोंट स्थानमें ही। पासही, खटोलेसे दो-तीन गजके फासलेपर, एक अंगीठीपर चौथी पतीली और चढ़ाये रखनी चाहिए और आठ-दस मिनटके बाद उस पतीलीको पुट्ठेवाली पतीलीकी जगह रखकर पुट्ठेवाली पहली पतीली अंगीठीपर चढ़ा दें। जब इसका पानी उबलने लगे तो इसे कमरवाली पतीलीकी जगह रख दें। पिंडलीवाली पतीली प्राय: बदलनेकी जरूरत नहीं होती। इतनेसे रोगीके शरीरसे पसीना टपकने लगेगा, रोगीके सिरपर ठंडे पानीमें भिगोकर निचोड़ा हुआ एक अंगोछा रख देना चाहिए और बीच-बीचमें उसे भिगोते रहना चाहिए। पसीना गरमीमें जल्दी आता है और जाड़ेमें अधिक समय लगता है। रोगी-रोगीमें भी भिन्नता होती है, किसी रोगीको जल्दी और किसीको देरसे पसीना आता है।

पसीना लेते समय दाएं-बाएं करवट बदलकर पसीना लेना

चाहिए। कुछ देर पेटकी तरफ और कुछ देर पीठकी तरफ लेना चाहिए। पहले पीठकी तरफ लें।

छोटे बच्चोंको पसीना सिर्फ एक पतीली कमरके नीचे रखकर देना चाहिए।

रोगीको भाप देनेके लिए एक सहायककी आवश्यकता होती है। भाप लेना बहुत आसान होनेपर भी इसे **किसी जानकारसे समझ लेना चाहिए**। बिना समझे देनेसे कभी-कभी लाभके बदले हानिकी संभावना रहती है। भापके लिए उबलता पानी काममें लाया जाता है, असावधानी होनेसे उबलते पानीसे रोगी या उपचारकके जल जानेका खतरा रहता है।

यहां जो तरीका बतलाया गया है वह गांवमें, घरोंमें काममें लाया जा सकनेवाला बतलाया गया है।

पसीना १५ से ३० मिनटतक आने दिया जा सकता है। शरीरके जिन भागोंमें दोषकी अधिकता होती है उनमें पसीना देरसे आता है और रोगी ऐसे स्थानोंमें अधिक गरमी लगाना चाहता है। वहां कुछ देरतक पसीना देना उचित है।

अधिक कमजोर और खतरनाक हालतमें, खासकर नाड़ीदौर्बल्यसे पीड़ित रोगियोंको भाप-नहान नहीं लेना चाहिए। इन्हें मेहन और कटि-स्नानके साथ धूप-स्नान जोड़ लेनेसे वही लाभ मिलेगा। जिन लोगोंको योंही स्वभावतः आसानीसे पसीना आता हो उन्हें भाप-नहान लेनेकी कोई जरूरत नहीं होती। एक हफ्तेमें दोसे अधिक भाप-नहान लेने हों तो इस चिकित्साके किसी जानकारकी सलाहसे ही लेने चाहिए।

भाप-नहानके बाद ६८ से ८० डिग्री फारेनहाईटके[1] ठंडे

---

[1] पानीकी ठंडक, गरमी देखनेके लिए थर्मामीटर आते हैं।

पानीका १५-२० मिनट का घर्षण कटि-स्नान[१] लेना चाहिए, जिससे शरीरको ठंडा किया जा सके।

भाप-नहानके बाद कटि-स्नानके आरंभमें या अंतमें पेड़ू के सिवा शरीरके बाकी सारे भागको छाती, हाथ, पैर, सिर और गर्दनको फुरतीसे धो डालना चाहिए, जिससे उनकी सफाई हो जाय और उनमें ठंडक आ जाय। पसीना लेकर तुरत नहानेसे डरना अनावश्यक है। शरीरकी उत्तेजित दशामें पसीना आया हो तो नहानेसे डर हो सकता है। भाप-नहानमें तो केवल समूची त्वचा गरम होती है। लोहेको भी खूब गरम करनेके बाद मजबूत करनेको ठंडे पानी में डुबोया जाता है। इसी प्रकार भाप-नहानके बाद ठंडा किये जानेपर शरीर मजबूत और सहनशील बनता है।

इस कटि-स्नानके बाद शरीरमें फिर गरमी लानी चाहिए, इतनी कि हल्के पसीने आ जायं। मजबूत रोगी खुली हवामें, खासकर धूपमें, कुछ कसरत करके गरमी ला सकते हैं। जो ज्यादा कमजोर हैं, उनको कंबल या रजाई ओढ़कर बिस्तरमें थोड़ी देर लेटना चाहिए। बहुत कमजोरोंको तो भाप-नहानसे बचना ही चाहिए।

भापके बर्तन न बहुत छोटे लेने चाहिए, न बहुत बड़े। ९-१० इंचके घेरेके टोपियेमें दो-अढ़ाई इंच पानी रखना काफी होगा। टोपिएकी ऊंचाई कम रहे तो अच्छा होगा, उसमें आंच कम खर्च होगी। बर्तन किसीभी धातुका लिया जा सकता है। मिट्टीकी हांडी भी ली जा सकती है। यदि हांडी बरती जाय तो सावधानी की आवश्यकता है।

[१] कटि-स्नान आगे समझाया गया है। कूनेने हर जगह घर्षण कटि-स्नान लिखा है। इसलिए जहां-जहां कटि-स्नान कहा गया है, उसके साथ 'घर्षण' समझ लेना चाहिए।

पेड़ूका भाप-नहान : जैसाकि चित्रमें दिखाया गया है, यह

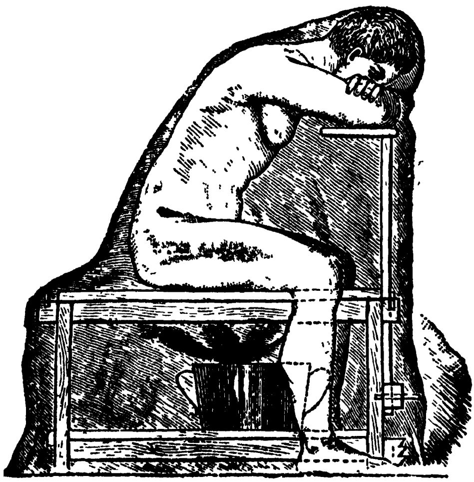

केवल पेड़ूपर लिया जाता है। जिनके पेड़ूमें ज्यादा खराबी होती है, या जो स्त्रियां मासिकके रोगोंसे अथवा दूसरे स्त्री-रोगोंसे पीड़ित होती हैं उन्हें इस स्नानकी आवश्यकता होती है। इसमें सिर्फ एकही बर्तनकी जरूरत होती है।

सारे पेड़ूको भाप-नहानके बाद ठंडा करना चाहिए। स्त्री-रोगोंमें भाप-नहानके बाद मेहन-स्नान लेना अच्छा रहता है। चाहे पूरा भाप-नहान लिया जाय अथवा केवल पेड़ूका, उसके बाद मेहन-स्नान या कटि-स्नान इतनी देरतक लेना चाहिए कि शरीरमें कुछ ठंड लगने लगे।

होशियारीसे लिये जानेपर इन भाप-नहानोंसे अद्‌भुत लाभ होता है।

गर्दन और सिरका भाप-नहान : (यह चित्रमें दिखाया गया है)। भापके बर्तनको एक तिपाईपर रख देते है, रोगीको तथा बर्त्तन-

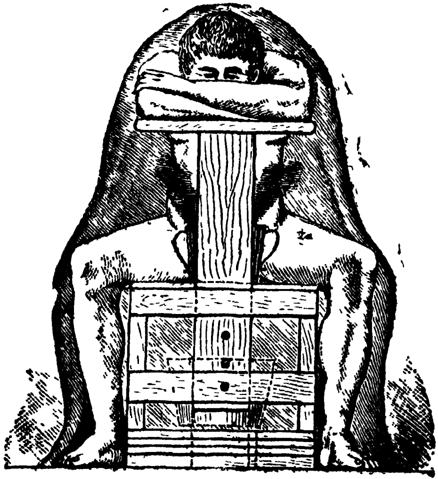

को कंबलसे ढंक देते हैं। रोगी अपनी गर्दन और सिरपर उस बर्त्तन-से भाप ले लेता है। पसीना आने लगनेपर हर तरहका दर्द घटने लगता है। दांतमें दर्द हो और मुंहको पसीना दिया जाय तो दर्द कम हो जाता है। यदि सिर और छाती गरम हो तो तुरत ठंडे पानीसे धो दें और तत्काल कटि-स्नान या मेहन-स्नान लें। यदि कुछ देरके बाद फिर दर्द लौटे तो सारे शरीरको भाप-नहान दें। पूरे पेड़ूको भाप देनेका विशेष ध्यान रखें। इसी तरह एक बार गर्दनका और एक बार सारे शरीरका भाप-नहान देते रहें।

अंग-विशेषके भाप-नहान बड़ा काम करते हैं और तुरत लाभ पहुंचाते हैं। कान, आंख, नाक और गलेकी तकलीफोंमें, खासकर

दांतके दर्द और किसी तरहके फोड़ेके दर्दकी हालतमें, इससे बहुत फायदा होता है।

धूप-नहान : धूप-नहान तेज धूपके समय ही लिया जा सकता है रोगीको बहुत पतले कपड़े पहनकर ऐसी जगह लेटना चाहिए, जहा बदनमें तेज हवा न लगे। चटाई या कंबलपर लेट सकते हैं। स्त्रियोंको सिर्फ एक पतली साड़ी पहने रहना चाहिए। सिर और चेहरेको सूर्यकी किरणोंसे बचाना चाहिए। इसके लिए चाहें तो केलेका एक बड़ा पत्ता रखा जा सकता है अथवा और किन्हीं छोटी पत्तियोंका झुप्पा। नग्न पेड़ूको भी उसी प्रकार पत्तोंसे ढकना चाहिए। पत्ते न मिलें तो गीले कपड़ेसे ढकें।

धूप-नहान आध घंटेसे डेढ़ घंटे तक लिया जा सकता है। जिन्हें शीघ्र पसीना न आता हो वे इससे भी ज्यादा देरतक ले सकते हैं। पर थकान मालूम होनेपर उठ जाना चाहिए। बहुत गरम दिनोंमें ज्यादा देरतक नहीं लेना चाहिए।

जिन्हें शुरू-शुरू धूप-नहान लेनेपर सिर-दर्द या अवसाद जान पड़े, उन्हें समय धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए। ऐसा उन्हींके लिए है, जिन्हें पसीना आसानीसे नहीं आता या बड़ी मुश्किल से आता है।

धूप-नहानके बाद ठंडा कटि-स्नान या मेहन-स्नान लेना चाहिए, जिससे उखड़े हुए दोष नीचे लाये जा सकें। जो मरीज ठंडे कटि-स्नान या मेहन-स्नानके बाद शीघ्र गरम नहीं होते, उन्हें फिर थोड़ी देर धूपमें बैठना चाहिए या धूप में टहलना चाहिए। यह उनके लिए है, जो अधिक बीमार या नाजुक हैं। ऐसोंके लिए धूप-नहान कुछ कड़ा पड़ेगा और उन्हें उपचारके आरंभमें यह नहीं लेना चाहिए।

धूप लेनेका अच्छा समय १० से ३ बजे तकका होता है।

दोपहरके भोजनके डेढ़ घंटे बाद लिया जा सकता है।

अंगविशेषका धूपनहान : मैंने गांठोंपर, घावोंपर अंदरके फोड़ोंपर तथा सारे दर्दवाले स्थानों पर स्थानीय धूपनहान देकर खूब फायदा देखा है। स्थानीय धूपनहानमें और तरीका तो वही है जो ऊपर बताया गया है, सिर्फ, जिस स्थानपर धूप लगानी है उसे धूपमें खुला रखकर किसी बड़े पत्ते या पत्तियोंके झुप्पेसे ढंक देना चाहिए।

धूपनहानके लिए निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि जल-चिकित्सा तथा भोजन-सुधारके साथ सूर्य आरोग्यदायी साधनों में सर्वश्रेष्ठ है। विशेषतः जीर्ण रोगोंमें, धूपनहान जैसा प्रभावशाली और साथ ही, सौम्य साधन दूसरा नहीं है। यह दोषोंको उद्दीप्त करके बाहर निकालता है। यदि किसी कपड़ेको हम धूप और पानीमें बारी-बारीसे डालें तो धूप उसकी गंदगीको बहुत-कुछ खींच लेगी और कपड़ा साफ हो जायगा। धोबी लोग कपड़ेको साफ करनेमें इसी विधिसे काम लेते हैं।

संसारके समस्त जीवधारी अपने जीवनके लिए सूर्य, जल, हवा और पृथ्वीपर निर्भर करते हैं। पेड़-पोधे भी, धूप, हवा, पानी और मिट्टीसे ही जीते और पनपते हैं। इनके अभावमें उनकी बाढ़ मारी जाती है, वे मुरझा जाते हैं। अन्य प्राणियोंकी भांति मनुष्य-की भी यही दशा होती है। दुर्भाग्यवश बहुत लोग अपने-आपको धूप और पानीसे बहुत बचाते हैं। इससे शरीर सुकुमार बन जाता है और उनमें रोग-प्रवणता बढ़ जाती है। स्वस्थ व्यक्ति बिना किसी बुरे प्रभावके धूप बरदाश्त कर सकता है। रोगी व्यक्ति धूपसे घब-राता है, क्योंकि इससे उसे कष्ट होता है। शरीरमें संचित दोषको धूप उद्दीप्त कर देती है, इसी कारण सिरमें दर्द, चक्कर, भारीपन,

अवसाद पैदा होता है। निष्कासन अवयवोंके अधिक कमजोर होने-की दशामें धूपसे दोष-विकीर्ण होनेके ये निश्चित लक्षण हैं। कोरा धूपनहान, बादको जलस्नानके बिना, हमें इच्छित फल नहीं देता। जल हमारी जीवनीशक्तिको बढ़ानेका काम करता है। उसको बढ़ाना हमारा प्रथम उद्देश्य होना चाहिए। बारी-बारीसे धूप, पानी पीते रहनेपर ही पौधे पनपते हैं। सिर्फ धूप लगनेपर तो मुरझाकर खत्म हो जायंगे।

शंका की जा सकती है कि शरीरको कपड़े या किसी पत्तेसे न ढककर नंगे शरीरपर धूपका असर अधिक होगा। पर प्रकृति पर एक नजर डालनेसे हमें पता चलेगा कि पेड़ोंपर लटकते हुए आम सूर्यकी किरणोंसे बचनेको हमेशा पत्तोंकी आड़ लेते हैं। अंगूरोंकी बेलमें भी, आड़में रहनेवाले फल ठीक पकते हैं और सीधी धूपमें पड़नेवाले खट्टे और छोटे होते हैं। हर फल पकते समय पत्तियोंकी रक्षा चाहता है, इस उदाहरणसे हम प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष धूपके प्रभावका अन्तर समझ सकते हैं।

बदनको पतले कपड़ोंसे ढके रहनेपर त्वचाके छिद्र तुरत खुल जाते हैं और शीघ्र ही उनमें नमी और गरमी आकर पसीने आ जाते हैं। यह काम बड़े पत्ते या किसी प्रकारकी ताजी हरी पत्तियोंसे भी हो सकता है।

दीर्घ अनुभवसे मैंने देखा है कि धूप-नहानमें हरी पत्तियोंके इस्तेमालसे दोषके उखड़नेमें अधिक काम होता है। मेरे अन्य आरोग्यकारी उपचारोंके साथ धूपनहान अत्यधिक लाभ पहुंचाता है, खासकर पेड़ूमें ग्रन्थियां—गांठें होनेपर।

नंगे सिर धूप लगाना हानिकारक है, इससे कई प्रकारकी तकलीफ हो सकती है।

घर्षण कटिस्नान : इसके लिए आकृति 'ड' के एक टबमें इतना पानी भरना चाहिए कि उसमें बैठनेपर जांघसे लेकर नाभितक पहुंच जाय। पानी ६४ से ६८ डिग्री फारेन-हाइटका होना चाहिए। रोगीको उसमें कुछ बैठे, कुछ लेटे हुए, जैसाकि

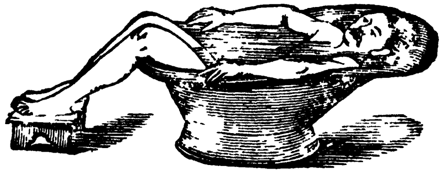

चित्रमें दिखाया गया है, सारे पेड़को (नाभिसे नीचेके हिस्सेमें), दायेंसे बाये, बिना रुके, तेजीसे एक मोटे खद्दरके तौलियेसे मलना चाहिए। शरीरमें अच्छी तरह ठंडक न आजानेतक यह क्रिया जारी रखनी चाहिए। शुरू-शुरूमें ५ से १० मिनट काफी होंगे, उसके बाद इस स्नानमें कुछ अधिक वक्त—३० मिनटतक भी लगाया जा सकता है। पर बहुत कमजोर तथा बच्चोंके लिए कुछ ही मिनट काफी होंगे। यह बहुत जरूरी है कि पांव और नाभिसे ऊपरका हिस्सा ठंडा न किया जाय। उन हिस्सों में प्रायः रक्तकी कमी रहती है, इसलिए उन्हें ऊनी कपड़ेसे ढक लेना चाहिए। कटिस्नानके बाद शरीर को तुरत गरमाना चाहिए। यह खुली हवामें तेजीसे चलकर या दूसरे व्यायामके द्वारा ठीक होता है। कुछ पसीना आजाय तो ज्यादा अच्छा होगा। जिन रोगियोंकी दशा अधिक खराब हो या जो बहुत नाजुक हों उन्हें गरमी लानेके लिए बिस्तरमें लेटकर अच्छी तरह ढककर गरम होना चाहिए। यदि गरमी देरसे आती हो तो पेड़ूपर एक ऊनी पट्टी लपेटनी चाहिए।

ऐसे कटिस्नान दिनमें एक से तीन बारतक लिये जा सकते हैं और उनके समयकी मीयाद ओर पानीकी ठंडक रोगीकी

दशाके अनुसार रखी जा सकती है। अनेक मरीजोंके लिए इसके बदलेमें मेहनस्नान ठीक हो सकता है। अथवा एक समय कटिस्नान और एक समय मेहनस्नान लिया जा सकता है।

घर्षण मेहनस्नान: यह स्त्री-रोगोंके लिए विशेष लाभदायक है। उपर्युक्त टबमें एक छोटी चौकी रख दी जाती है। उसके बाद टबमें इतना पानी डालें कि चौकीका ऊपरका पटरा सूखा रहकर बाकी पानीमें आजाय। रोगीको उस चौकीपर बैठकर खद्दरके छोटे टुकड़ेको पानीसे भिगोकर जननेन्द्रिय तथा पेड़ूको धीरे-धीरे धोना चाहिए—रगड़ नहीं लगनी चाहिए। खद्दरके टुकड़ेमें जहांतक ज्यादा पानी लिया जा सके लेना चाहिए। इसमें योनिकी सिर्फ बाहरी जिह्वाको धोना आवश्यक है, जननेन्द्रियके भीतरी हिस्सेको नहीं। उसके बाद रोगी या शुश्रूषकको धीरे-धीरे पीठके नीचेके भागको तथा पेड़ूको ऊपर, नीचेसे तथा दायेंबायेंसे उसी भीगे कपड़ेसे मल देना चाहिए। इसमें भी पैरका भाग तथा शरीरके ऊपरका हिस्सा सूखा रहता है। इसमें स्नानके बाद तुरत खुली हवामें कसरत करके गरमी लानी चाहिए। मासिकके दिनोंमें यह स्नान बंद रखना चाहिए। हां, अगर बहुत अधिक रक्त आता हो तो उन दिनों भी यह जारी रखा जा सकता है, लेकिन ऐसा तभी किया जा सकता है जब इस चिकित्साका कोई विशेष जानकार इसकी हिदायत करे। मासिक २ या ३ दिनका मानना चाहिए, हद ४ दिनका। यदि इससे ज्यादा समय लगता है तो वह अस्वाभाविक है और रोग है।

घर्षण मेहनस्नानके लिए पानी ५० से ६० डिगरी ठंडकका लेना चाहिए, जैसाकि जाड़ेमें अपने-आप मिलता है। खास-खास केसोंमें कुछ कम ठंडा अर्थात् ६६ डिगरीतक भी लिया जा सकता है।

कुएंका या नदीका घड़ोंमें रखकर ठंडा किया हुआ पानी काममें लाया जा सकता है।

यह स्नान रोगीकी शक्तिके अनुसार १० मिनटसे एक घंटे तक किया जा सकता है। स्नान लेनेका कमरा आरामदेह, गरम होना चाहिए—खासकर जाड़ेमें। अगर ठंडक हो तो, अंगीठी जलाकर धुआं निकाल देनेके बाद, कमरेमें रख लें। थोड़ी हवा आनेके लिए एक खिड़की खुली रखें। स्नान नग्न होकर लेना चाहिए। पानी इस स्नानमें जितना ठंडा रहेगा लाभ उतना अधिक मिलेगा। लेकिन रोगीकी बरदाश्तके बाहर ठंडा नहीं होना चाहिए। गरम देशोंमें यूरोपके जितना ठंडा पानी नहीं मिल सकता, इसलिए वहां जितना ठंडा मिले उतना ठंडा लेना चाहिए। मनमें यह खयाल नहीं लाना चाहिए कि ठंडा नहीं मिलेगा तो फायदा नहीं होगा या कम होगा; क्योंकि वहांका सारा वातावरण उसीके अनुकूल होता है। वहां जितना ठंडा मिलता है उसीसे उतना फायदा होता है। मैंने जो रिपोर्ट गरम मुल्कोंसे पाई है उनसे मेरा यह अनुमान सही उतरता है। यही बात कटिस्नानके पानीकी भी है। **कटिस्नानमें कुएं या नदीका ताजापानी लिया जा सकता है अथवा उतनी ठंडक का बासी।**

जहां मेरे नमूनेका टब न मिले वहां कोई भी टब इन स्नानोंके लिए काममें लाया जा सकता है। देखना यह है कि बड़ा इतना होना चाहिए कि उसमें २५-३० सेर पानी आ जाय, और मेहन-स्नानके लिए चौकी रखकर उसपर आरामसे बैठा जा सके और पानी चौकीके किनारेतक पहुंच जाय। पानी कम रहनेपर उसकी ठंडक जल्दी कम हो जायगी, उसमें गरमी आ जायगी और स्नान-का लाभ कम होगा। झरनेके पानीकी अपेक्षा हल्का पानी अधिक

लाभदायक होता है। जहां झरनेका ही पानी मिले वहां उसे भरकर थोड़ी देर रखनेके बाद काममें लाना चाहिए। लेकिन यह खयाल रहे कि गरम न हो जाय।

नहानेको तो सभी लोग ठंडे पानीसे—सफाईके खयालसे—बराबर नहाते ही हैं. लेकिन जितने ठंडेसे मैं बतलाता हूं, उतने ठंडेसे, उतनी देरतक, और मैं जिस विधिसे बतलाता हूं, उस विधिसे नहीं नहाते।

मर्दोंका मेहनस्नान : उन्हें लिंगेन्द्रियके ढकनेके चमड़ेके अगले सिरेको धोना चाहिए। रोगीको चाहिए कि वह उस सिरेको बायें हाथके अंगूठे और उसके बगल की अंगुलीसे अथवा बायें हाथकी दूसरी और तीसरी अंगुलीके बीचमें दबाकर ढकनेके अग्र भागको आगे बढ़ा ले और उसे धीरे-धीरे पानीमें धोए। आगे बढ़ानेका मतलब यह है कि इन्द्रियके भीतरी हिस्सेपर रगड़ न लगे। बिना रुके लगातार उस खोलके अग्रभागको दाहिने हाथमें खद्दरका एक रूमाल लेकर उसी टबके पानीमें भिगो-भिगोकर धीरे-धीरे धोना चाहिए। इन हिदायतों पर पूरा ध्यान देना बहुत जरूरी है। जिसे शंका हो कि पूरी बात समझमें नहीं आई है उसे किसी अच्छे जानकार से दरियाफ्त करके तब यह स्नान शुरू करना चाहिए। अन्यथा, लाभके बदले हानि होनेका खतरा रहता है। जिस मरीजके अन्दर कोई सूजन या किसी तरहकी सड़ान वगैरहकी खराबी होती है या जीर्ण दशा उग्र दशामें परिवर्तित होनेवाली होती है, वहां भीतरी सूजन या जलन पहले ही स्नानमें इन्द्रियके धोये जानेवाले सिरेपर या उसके इधर-उधर प्रकट हो जाती है। इसमें कोई घबरानेवाली बात नहीं। ऐसी दशामें सिर्फ रूमाल अधिक नरम ले लेना चाहिए। समय १० मिनटसे एक घंटे

तक लिया जा सकता है ।

बहुतसे केसोंमें, अगर चौकीपर पानी तीन अंगुल ऊंचा रख दिया जाय तो काम शीघ्र होगा। ऐसी दशामें पानीकी ठंडक ६३ से ७३ रखनी चाहिए। ऐसी दशामें पुट्ठे पानीमें आ जाते हैं । शेष बातें वही रहती हैं ।

प्रश्न हो सकता है कि मेहनस्नान के लिए यही भाग क्यों चुना गया, दूसरा क्यों नहीं ? वास्तवमें इस स्नानके लिए यह भाग जितना उपयुक्त है दूसरा उतना नहीं है । दूसरे किसी स्थानमें नाड़ियोंका इतना समूह एकत्र नहीं हुआ है। यहां रीढ़की तथा मस्तिष्ककी एवं अन्यत्रकी नाड़ियां आकर मिली हैं। यहांकी ठंडकसे शरीरकी सारी नाड़ियोंपर पूरा असर होता है। जननेन्द्रिय और लिंगेन्द्रिय ही ऐसा स्थान है कि जहां से सारे शरीरको प्रभावित किया जा सकता है। इस स्थानकी एक वृक्षकी जड़से तुलना की जा सकती है। इसे ठंडे पानीमें धोनेसे सिर्फ भीतरकी गरमी ही शान्त नहीं की जाती बल्कि सारी नाड़ियोंमें जान आ जाती है और सारे शरीरकी जीवनी-शक्ति सजग हो जाती है, ऊपर से नीचे तक शरीरका सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भाग भी सचेत हो जाता है। वहां यह नहीं हो पाता कि जहां किसी प्रकारकी चीर-फाड़से नाड़ियां छिन्न हो गई हैं या कर दी गई हैं।

प्रत्येक समझदार व्यक्ति इस प्रयोगको निर्भयतापूर्वक मेरे बताये तरीकेसे आजमाने पर कबूल करेगा कि शरीरको उसका कर्त्तव्य पूरा करनेमें यह स्नान पूरी मदद करता है। यह याद रखना जरूरी है कि यह मेहनस्नान, जिसने हजारोंको लाभ पहुंचाया है, केवल बीमारोंको स्वस्थ बनानेको है। इस स्नानकी मददसे बडे-बडे कष्टदायी आपरेशनोंसे निश्चित रूपसे बचा जा

सकता है। बिल्कुल स्वस्थ व्यक्तियोंपर इस मेहनस्नानका कोई प्रभाव नहीं पड़ता और उनके लिए इसका विधान भी नहीं है। उन्हें इसमें ऊब मालूम होगी। पर बीमार तो इसे बताए वक्तसे भी ज्यादा वक्ततक लेते देखे जाते हैं।

जैसे बदली (बादलोंसे) और ऊमससे एक बेचेनी-सी होती है, वही दशा शरीरकी दोष-भार बढ़नेसे होती है। ज्वरमें भी वही दशा होती है। इस दशाको सम करनेके लिए उच्च तापको निम्न तापके साथ सम करना आवश्यक है। अधिकको साधारण-पर ला देना चाहिए। इसके लिए मेरा ठंडे पानीका मेहनस्नान रामबाण है। अनगिनत लोगोंको इससे लाभ प्राप्त हुआ है। जहां शरीरकी जीवनी-शक्ति बिल्कुल क्षीण हो गई है वहीं यह निष्फल हुआ है।

अंदर गंदगीसे भरे हुए शरीरको अपनी खराब हुई पाचन-शक्तिके कारण उस भोजनसे यथेष्ट जीवनीशक्ति नहीं प्राप्त होती, जिससे कि वह स्वस्थ अवस्थामें करता था। खराब हुए बायलरमें जैसे ज्यादा कोयला लगता है, वैसे ही अस्वस्थ शरीरको भी पहलेकी अपेक्षा अधिक खुराककी जरूरत होती है। और, उसे उत्तेजक भोजनकी जरूरत होती है। इस प्रकार पाचनशक्ति दिन-दिन क्षीण होती जाती है।

शरीरकी जीवनीशक्तिको बढ़ानेके लिए हमें अपना पाचन सुधारनेकी ओर ध्यान देना अत्यावश्यक है। इसके लिए ठंडे स्नान, प्राकृतिक भोजनके साथ मिलकर, बहुत लाभदायक पाये गए हैं। इनसे अधिक-से-अधिक खराब पाचन सुधर जाता है, बशर्ते कि सुधरनेकी गुंजाइश बाकी हो। दूसरे किसी भी उपायकी अपेक्षा इस प्रकार से पाचन-शक्ति अधिक स्वाभाविक रूपसे काम करने

लगती है।

ये स्नान दोषके संघर्षके कारण पैदा हुए ज्वर—तापको भी घटाकर स्वाभाविक सतह पर ले आते हैं। इससे रोगकी वृद्धि रुक जाती है। यदि हम किसी कमरेमें उबलते पानीसे उठनेवाली स्टीमका रूप बदल देना यानी उसे असली रूप—पानीकी शक्लमें लाना चाहें तो उसका एक ही उपाय है कि हम तापमान को घटा दें। यही बात दोष यानी हर रोगके साथ है। शरीरमें ताप बढ़नेके साथ-साथ रोग बढ़ता है, उसे दूर करना तभी संभव है कि जब हम विरुद्ध स्थिति ला दें, यानी बराबर ठंडक दें और भीतरी बढ़ी हुई गरमीको कम कर दें।

लेकिन जैसे एक मशीनको किसी एक बिन्दुसे चालू किया जा सकता है—तेज, या धीमा—ठीक वही बात मनुष्य-शरीरकी भी है। जीवनीशक्तिको सिर्फ एक बिन्दुसे प्रभावित किया जा सकता है, वही बिन्दु मैंने मेहनस्नानके लिए चुना है।

इतने वर्णनसे यह बात सबकी समझमें आ जानी चाहिए कि चक्षु और कर्ण-रोगोंकी चिकित्सा भी उसी विधिसे सफलतापूर्वक की जा सकती है, जिस विधिसे अन्य रोगोंकी। जैसे सुर्ख बुखार, चेचक और हैजे वगैरहकी की जाती है। हां, हर व्यक्तिकी चिकित्सामें उसकी दशा-विशेषपर ध्यान रखना तो जरूरी होता ही है। इन स्नानों द्वारा जीवनीशक्ति किस प्रकार बढ़ती है, इसका बहुतोंको पता नहीं है। प्रायः, रोगीकी उम्मीदके विरुद्ध दशा उत्पन्न होती है। जैसे, तंबाकू पीनेवाले ये स्नान लेनेके बाद अधिक समयतक तंबाकू बरदाश्त न कर पानेके कारण सोचने लगते हैं कि शायद उनका मेदा कमजोर हो गया। पर बात उल्टी होती है। पहले तो उनका मेदा तंबाकूके 'निकोटाइन' नामक विषसे संघर्ष करनेमें

असमर्थ था, पर इन स्नानों द्वारा उसमें उस विषका विरोध करनेकी क्षमता आ जाती है। इन स्नानोंके कारण नाड़ियां सशक्त हो जाने पर उनका शरीर धीरे-धीरे एकत्र हुए दोष-संचयको स्वाभाविक निष्कासन अंगों द्वारा निकालनेकी शक्ति प्राप्त कर लेता है।

मिट्टीकी पट्टी

पेड़ूके चारों ओर मिट्टीकी पट्टी लगाना भी बहुत ही लाभ-दायक होता है। भीतरकी गरमी घटाने और दोष-संचयको छिन्न करनेके लिए मेहनस्नानके साथ-साथ ऐसी पट्टियां घाव और बाहरी चोटोंमें भी अत्यन्त लाभ करती हैं।

प्राकृतिक उपचारकी मर्यादा

मेरे उपचार, जैसाकि मैं पहले कह चुका हूं, हर रोगको आराम कर सकते हैं, लेकिन हर रोगीको नहीं। जहां शारीरिक जीवनी-शक्ति बहुत कम रह गई है, पाचन-शक्ति बिलकुल बिगड़ चुकी है, इन उपचारोंसे आराम तो मिलेगा, जैसा और किसी दवा—इलाजसे नहीं मिल सकता, पर उस दशामें इससे बिलकुल आराम होनेकी उम्मीद तो नहीं की जा सकती।

ऐसे भयंकर केस भी हो सकते हैं, जहां मेरे इन नहानोंका बहुत हल्की मात्रामें उपयोग करना चाहिए और प्रायः, बीच-बीचमें छोड़ भी देना चाहिए। ऐसे खतरनाक केसोंमें इन विधियोंके अच्छे जानकारकी सलाह लेकर ही चिकित्सा करनी चाहिए।

: ६ :

खान-पानका प्रश्न

पाचन-क्रिया

पिछले प्रकरणोंमें कहा जा चुका है कि गलत भोजनके परिणाम स्वरूप पाचन बिगड़नेके कारण ही, दोष-संचय होकर शरीरमें रोग उत्पन्न होते हैं। अत: रोग-निवृत्तिमें मुख्य प्रश्न खान-पानका है। विद्युत्शक्तिके उचित या निरंतर संचारके लिए कुछ निश्चित मूल पदार्थोंका होना आवश्यक है। एक तेजाबके द्वारा हम ज़िंक (जस्ता) और अंगार (कारबन) के टुकड़ोंको विघटित करते हैं। उन टुकड़ोंमें मूल रूपमें संचितशक्तिको विकीर्ण करनेको तेजाब आवश्यक है। उसके बाद यह शक्ति विद्युतके रूपमें धनताड़ित (पाज़िटिव) और ऋणताड़ित (नेगेटिव) धाराकी शक्लमें तारोंके द्वारा चालित की जाती है। पर इन मूल पदार्थों—'ज़िंक' और 'कारबन' के बदलेमें हम दूसरी, उनसे मिलती-जुलती, उन्हीं जैसे तत्त्ववाली दूसरी, वस्तुएं काममें लायें या ज़िंक और कारबनको ही दूसरे रूपमें यानी चूर्ण करके काममें लायें तो हमें तत्काल उसमें फर्क मालूम होगा। तब हम या तो कोई बिजली पैदा ही न कर सकेंगे, या वह बिलकुल परिवर्तित रूपमें—न्यून दशामें होगी। इसी प्रकार मनुष्य-शरीरमें जीवनीशक्ति, जिसे हम बिजलीकी उपमा दे सकते हैं—पैदा करनेको भी, भोजनका सही चुनाव होना आवश्यक है। वायुके संबंधमें तो, जो हमारे शरीरकी प्रधान खुराक है, साफ-साफ दिखाई देता है कि यदि हम

एक व्यक्तिको कुछ मिनटोंके लिए स्वाभाविक हवासे हटाकर दूसरी गैसवाली हवामें रख दें तो वह कुछ ही मिनटोंमें खत्म हो जायगा। गैसके रूपमें मिलनेवाला नया तत्त्व उसकी जीवनीशक्ति-को जारी न रख सकेगा।

गलत भोजनका असर धीरे-धीरे होता है। तुरत उसका पता नहीं चलता। स्वाभाविक भोजनके बदले आदमीको कोई तेज विष खिला दिया जाय तो उसका फर्क फौरन मालूम होगा। पर स्वाभाविक और अस्वाभाविक भोजनका अंतर इतना सूक्ष्म होता है कि आरंभमें तो उसका पता मुश्किलसे लगता है। पहले कह आये हैं कि शरीरमें दोष गलत खुराकके कारण संचित होता है, यानी रोग पाचनके बिगड़नेसे पैदा होता है। निरोग होने और निरोग रहनेके लिए गलत खुराक और पाचनकी खराबीसे बचना हमारा प्रथम कर्त्तव्य है। कई मोटे और फूले हुए आदमी यह कहते सुने जाते हैं कि हम तो बहुत ही कम खाते-पीते हैं, फिर भी हम फूलते ही जाते हैं। इनका शरीर खुराकमेंसे अधिक पोषण खींचता है। दूसरी ओर, दुबले-पतले लोग मिलते हैं, जो अपनी समझमें खान-पानमें काफी पोषक पदार्थोंका उपयोग करते हैं, फिर भी, वे पनप नहीं पाते। खुराककी दृष्टिसे तो इन्हें मोटोंकी श्रेणीमें होना चाहिए था। पर इनका खाया-पीया शरीरमें-से सिर्फ गुजर जाता है, कोई काम नहीं देता,—शरीर में लगता नहीं। खुराकका बहुत बड़ा भाग बिना उपयोगके फजूल निकल जाता है। इससे सिद्ध होता है कि खुराकका शरीरमें-से गुजर जाना ही स्वा-भाविक पाचनका प्रमाण नहीं है।

इस प्रकार हम दो प्रकारके, परस्पर विरोधी वर्ग के, व्यक्ति देखते हैं। एक तो थोड़ा खा-पीकर भी फूलनेवाले, दूसरे, जो

खूब खा-पीकर भी, दुर्बल हुए जाते हैं। देखनेमें परस्पर विरोध लगते हुए भी, दोनोंकी खराबीका कारण तो एक ही है, यानी बिगड़ा हुआ पाचन और गलत खुराक। इस विवेचनसे हमारे सामने यह भेद खुल जाता है कि एक क्षयग्रस्त व्यक्ति हमेशा खूब पोषक पदार्थ खाते हुए भी क्यों बीमार बना रहता है और दूसरी ओर एक मोटा—दिखनेमें मजबूत—आदमी, नाड़ी-दौर्बल्यसे क्यों पीड़ित पाया जाता है और क्यों उसे भूख न लगनेकी शिकायत पाई जाती है।

अब हम समझ सकेंगे कि अधिक पोषणसे हमें क्यों बचना चाहिए? **लोगोंका यह खयाल कि घी, दूध, दही, मांस, मछली अंडे, शराब, चाय वगैरह विशेष पोषण देते हैं, बिलकुल गलत है। पोषक पदार्थ वही है जो जल्दी और आसानी से पचते हैं। शरीर में गई हुई जल्द-से-जल्द पचनेवाली खुराक ही शरीरके अधिक-से-अधिक काम आती है और वही अधिक-से-अधिक शक्ति भी देती है। इस प्रकार शक्तिकी प्राप्ति खुराकके पचनेपर निर्भर है, न कि खुराकके सिर्फ पेटमें डाल लेनेपर।**

दुष्पाच्य खुराकको पचानेमें शरीरको बड़ा समय लगता है। यदि कभी ऐसी खुराक ली ही जाय तो उसके भली-भांति हजम न होनेतक दुबारा नहीं खाना चाहिए। दुर्भाग्यवश ऐसा बहुत कम होता है। हमारा नित्यका रिवाज तो इस उचित उपवासके विरुद्ध ही है। इस प्रकारके उपवासका सच्चा महत्त्व आज हमारी दृष्टिसे ओझल हो गया है—कुदरतके सिखाए हुए उपवासके तत्त्वको हमने बिल्कुल बिसार दिया है।

बहुत लोग जाड़ोंमें भारी खुराक खाते हैं, यह समझकर कि इससे जाड़ा कम लगेगा। यह प्राकृतिक नियमके बिल्कुल विरुद्ध है। मैंने अक्सर जाड़ेमें अधिक खानेके कुपरिणामोंका अनुभव

किया है।[1] प्रकृतिके राज्यमें हम सर्वत्र उपवासका एक निश्चित काल पाते हैं। हम प्राय: देखते हैं कि सांप एकबार डटकर खा लेनेके बाद हफ्तों उपवास करता है। हरिन और खरगोशको भी हम इसी प्रकार जाड़ेमें बहुत कम खुराकपर गुजर करते पाते हैं। इसके कारण वे जाड़ेसे अपनी उचित रक्षा कर पाते हैं। गरमी जितना ही भोजन ये प्राणी जाड़ेमें भी करें तो जरूर बीमार पड़ेंगे और सर्दी बर्दाश्त न कर सकेंगे। ठंडककी हालतमें अंदर खमीर पूरा न उठ पानेके कारण पाचन ठीक नहीं होता। गरमीके मौसममें जितनी खुराक आसानीसे पचती है जाड़ेमें उतनी पचनेमें अधिक कठिनाई होगी। यही कारण है कि हमारे पालतू ज़ानवर जाड़ेमें ज्यादा बीमार होते हैं, क्योंकि हम उन्हें गरमी, जाड़ा दोनों मौसमोंमें समान खुराक देते हैं। पर जंगली जानवर तो जाड़ेमें स्वभावत: अपनी खुराक घटा लेते हैं।

कुंद हवा—बहुत लोगोंके सांस से निकली हुई हवा, हमें सुस्त कर देती है। इस दृष्टिसे हमारे लिए ताजी साफ हवाकी बहुत जरूरत जान पड़ती है।

अत:, हमें कहां बैठकर भोजन करना चाहिए यह एक महत्त्वका विषय है। भोजन निगलनेके समय हम कुछ हवा भी निगलते हैं, इस दृष्टिसे खुली हवामें भोजन किये जानेपर पाचन अच्छा होगा।

---

[1] जर्मनीके लिए या जिन देशोंमें सर्दी अधिक पड़ती है वहांके लिए यह ठीक है, पर हिंदुस्तान जैसे गरम देश के लिए इस विवेचनमें कुछ परिवर्तन करना होगा। वहां गरमीमें जितनी सुहावनी ठंडक रहती है, यहां उतनी जाड़ेमें रहती है। वहांवालोंको हिंदुस्तान जितनी गरमीका अनुभव ही नहीं होता।

अप्राकृतिक खुराककी दुष्पाच्यता

अच्छी खुराक वह है जो अपने मौलिक रूपमें—बिना किसी परिवर्त्तनके—स्वाद लगती है और जिसे खानेको हमारा मन ललचता है, जो बहुत आसानीसे पचती है ओर हमें अधिक शक्ति देती है।

वे सारी खुराकें, जिन्हें हम पकाते, भूनते, छौंकते, तलते, गलाते हैं, अपनी सुपाच्यता खो देती हैं। यद्यपि खुराकोंका रूप बदलकर उन्हें ज्यादा दिनोंतक रखा जा सकता है, पर जीवनी-शक्तिकी दृष्टिसे, उन खुराकोंके मुकाबलेमें कि जो अपने मौलिक रूपमें हैं, वे बहुत घटिया दर्जेकी हैं। पकी खुराकोंमें, वह खुराक अधिक-से-अधिक सुपाच्य होगी जो अत्यंत सादे ढंगसे पकाई या तैयार की गई हो और जिसमें कम-से-कम मसाला डाला गया हो।

तरल—पतली—खुराक ठोस—चबाई जा सकनेवाली—खुराकके मुकाबलेमें बहुत मुश्किलसे पचती है। इस कारण लगातार तरल भोजनका सेवन मेदेको फैला देता है और पाचनमें गड़बड़ी पैदा करता है।

अपने प्राकृतिक—मौलिक—रूपमें घिनौनी लगनेवाली खुराक स्वास्थ्यके लिए सदैव हानिकारक होती है। पकाकर—खानेवाले, फिर उसे चाहे जितना ही स्वादिष्ट बनाकर क्यों न खायं—मांस, मछली वगैरह सब इसी वर्ग में आते हैं। कोई भेड़, बकरीका मांस या मछलीको मुंह मारकर न खाना चाहेगा। हम अपनी स्वाभाविक रुचिको इन चीजोंको पका, भूनकर धोखा दे सकते हैं, पर प्राकृतिक रूपमें घिनौनी लगनेवाली, सूंघने, चखनेमें

बुरी लगनेवाली वस्तु पकाने, भूननेसे कदापि कामकी नहीं हो सकती ।

दुर्भाग्यवश सर्वसाधारणमें यह भ्रम फैला हुआ है कि बिना पकाये खुराक अस्वास्थ्यकर होती है, इससे अतिसार होता है, आंव पड़ जाते हैं, पेटमें दर्द होता है। यदि कोई मांसाहारी संयोगसे कोई कच्ची सेव (या कच्चा अमरूद) या दूसरा कोई कच्चा फल खा लेता है तो उसे अतिसार हो जासकता है—दस्त आ जासकते हैं तो कहते हैं, उस फलने नुकसान किया। लेकिन कच्चे फलके सुपाच्य होनेका तो यह सुन्दर सबूत है। प्रत्येक सुपाच्य खुराकमें खमीर शीघ्रतासे पैदा हो जाता है, दुष्पाच्य खुराक में वैसा नहीं होता। यदि हमारे मेदेमें पहले ऐसी खुराक पड़ी हुई है, जो कठिनाईसे पचनेवाली है, जिसमें खमीर बहुत देरसे पैदा होता है, और हम ऊपरसे ऐसी खुराक खाते हैं, जो शीघ्र खुमीर उठानेवाली होती है तो वह जाकर उस खुराकमें भी खमीर उठा देती है और हमें अतिसार हो जाता है। और, पेटसे पहलेवाली भारी खुराक बाहर निकल जाती है। हम गलतीसे इस तरीके-से भयभीत होते हैं। ऐसे उभार हमारे शरीरको आश्चर्यजनक शीघ्रतासे गंदगीसे रहित कर देते हैं। इससे शरीरको बड़ा लाभ होता है।

मांस खा-खाकर मोटे हुए (अन्य प्रकारसे रोग-ग्रस्त) कुत्ते अक्सर घास खाते देखे जाते हैं। मांसाहारी पशुओंको घाससे क्या मतलब ? पर प्रकृति कुत्तेको सिखाती है कि सुपाच्य घाससे वह मांसद्वारा बिगड़ी हुई अपनी पाचनशक्तिको सुधार सकता है।

इसी दृष्टिसे पेटकी तकलीफवालोंको या पाचनकी शिकायत-वालोंको पकेके मुकाबले कच्चे—गद्दर फल खानेकी सिफारिश

की जाती है। तबतक, जबतक कि पके फल फिरसे ठीक पचने न लगें। जैसे फल और दूसरे खाद्य पदार्थ अपने प्राकृतिक रूपमें सुपाच्य होते हैं वैसे ही अन्न भी अपने प्राकृतिक रूपमें (अथवा भिगोनेके बाद अंकुरित करके) सुपाच्य होता है। स्वभावत:, ऐसे अन्नको चबानेमें दांतोंको पूरा काम करना पड़ता है। उसको खूब चबाना और उसमें लारका पूर्णरूपसे मिलना पाचनमें मदद करता है। लेकिन अन्नको पूरा चबानेका काम तो वही भाग्यवान कर सकते हैं कि जिनके दांत अच्छी हालतमें हैं। लेकिन जिन्होंने अपने दांत खो दिये हैं, उनके लिए तो यह संभव नहीं है। ऐसे लोगोंको तो अन्नको दल लेनेके बाद चबाकर खाना चाहिए। जहां चोकरसहित—बिना छने आटेकी रोटी भी न पचे वहां यही करना चाहिए। ऐसी दशामें मोटा दला हुआ अन्न गद्दर फलोंके साथ बहुत उपयोगी होगा और यदि रोगीमें अच्छी जीवनीशक्ति होगी तो रोगी बहुत जल्द लाभ प्राप्त करेगा। **रोटी इतनी आसानीसे नहीं पचती जितनी आसानीसे कि कच्चा खाया हुआ अन्न पचता है।** वैसे तो, दाल, भात, खिचड़ी वगैरहकी अपेक्षा चोकरसहित आटेकी रोटी सहजमें पचती है। **आटेमें-से चोकर निकाल दिये जानेपर उस रोटीके पचनेमें बहुत देर लगती है और कब्ज पैदा होता है।**

खुराककी सुपाच्यता उसके छिलके या खूभेपर निर्भर है। आटेमें जितना ज्यादा चोकर होगा उतनी ही रोटी अधिक सुपाच्य होगी। चावलमें जितना कण अधिक होगा यानी यह जितना कम छंटा होगा, उतना ही सुपाच्य होगा। वास्तवमें तो **कुदरत हमें जो खुराक जिस रूपमें देती है, वह सदा उसी रूपमें अधिकाधिक सुपाच्य है।**

खुराकका रूप

प्रायः, लोगोंको कहते सुना जाता है कि हम दाल नहीं पचा पाते, उससे हमारे पेटमें वायु पैदा होती है। पर यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि हमने दाल बनाई कैसे है? दाल गाढ़ी या पतली बनाकर खानेपर तो वह जरूर पचनेमें भारी होगी और तकलीफ देगी। क्योंकि, पतली या गाढ़ी दाल तो पेटमें बिना चबाये पहुंचती है, इसलिए वह पचनेकी तैयारीमें ही नहीं रहती। पर अगर हम द्विदल अन्नको थोड़ा-सा पानी देकर सिर्फ भफा (steam boil) लें तो उसे हम चबा सकेंगे और फिर उसके पचने-में कोई दिक्कत न होगी। ऐसी दाल खाई भी कम जायगी और इससे शरीरको शक्ति अधिक मिलेगी।

मुझे एक मजदूरका किस्सा मालूम है कि उसने एक बार तीन महीने रोज सिर्फ थोड़ा मटर खाकर गुजर किया था। वह बड़े मजेसे अपनी कथा सुनाया करता कि किस तरह वह मुंहमें सूखे मटर भर लेता और उन्हें पहले चुभलाता और फिर खूब चबा-चबा-कर गलेके नीचे उतारता था। इतना थोड़ा खाकर भी वह खूब स्वस्थ रहा था, जैसा पहले कभी नहीं था—इससे हमें खुराककी, अपनी स्वाभाविक स्थितिमें, पोषण-शक्तिका पता चलता है। साथ ही, इस सिद्धान्तका भी कि कुदरत हमें बहुत थोड़ेसे और बहुत सादे तौरसे काम चलाना सिखाती है।

खुराककी मात्रा

सही-सही यह बतलाना तो निःसंदेह कठिन ही है कि किस मरीजको, किस प्रकारकी खुराककी कितनी मात्रा लेनी चाहिए। मुश्किलसे दो मरीज ऐसे मिलेंगे कि जिनकी पाचन-शक्ति समान

हो, इसलिए अच्छा यह है कि हरएक अपना फैसला आप ही करे कि उसके लिए कितना, क्या उचित होगा। हां, किस भोजनसे कौन-सा भोजन कितना जल्द या देरमें पचता है, यह बतलाना तो आसान है।

पचनेका अर्थ है शरीरमें जाकर भोजनमें खमीर क्रियाका होना। इससे खाई हुई वस्तु अंदर पहुंचकर बिल्कुल भिन्न शक्लमें बदल जाती है। शरीर, उसमें-से जितना उसके लिए जरूरी है, ले लेता है। वे सारी खुराकें, जिन्हें हम अप्राकृतिक रूपसे मसाले देकर या छौंक-बघारकर परिवर्तित कर देते हैं, दुष्पाच्य हो जाती हैं। उन्हें पाचनकी दशा में आनेमें—उनमें खमीर उठनेमें जरूरत-से ज्यादा वक्त लग जाता है। दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि उन्हें उचित अवस्थामें आनेके लिए पाचन-प्रणालीमें अधिक समय तक रहना पड़ता है, और इससे खमीरकी क्रिया तेज होती है और ताप बढ़ जाता है। तब भीतरी गरमीमें वृद्धि होनेसे आंतोंमें पड़े मलमें सख्ती और कालापन आ जाता है। वास्तवमें पाचनका काम तो मुंहसे ही शुरू हो जाता है। फिर खुराक मेदेमें पहुंचती है, उसमें पाचक रस मिलता और उसपर पूर्ण क्रिया होती है। फिर खुराकके कण विकीर्ण होते या खमीरकी दशामें आ जाते हैं जिससे उनमें परिवर्त्तन हो जाता है। आंतोंमें खमीरक्रियाकी वृद्धि होती है और पित्त और दूसरे पाचक रस उसमें मिलते हैं।

फिर शरीरके द्वारा आवश्यक तत्त्व ग्रहण कर लिये जाने पर अनावश्यक भाग आंतों, गुर्दों और त्वचाके द्वारा निकाल दिये जाते हैं। अक्सर देखा जाता है कि कई जानवर हड्डी और कंकड़ जैसी सख्त चीजें तुरत पचा डालते हैं। इसके विपरीत, मनुष्योंमें कई

बार खुराक मेदेमें हफ्ते-हफ्तेतक पड़ी रह जाती है। इसमें सड़न पैदा होकर गैस—वायु—बनती है और ऊपरसे डकार अथवा गुदासे हवाके रूपमें खारिज होती रहती है। इस वायुके आंतोंमें रहनेसे शरीरका कोई फायदा नहीं। इसे कभी रोकना नहीं चाहिए, रोकनेसे शरीरको बड़ी हानि होती है।

इस प्रकारकी गंदगीको शरीर पसीनेके रूपमें भी बाहर निकालता है। इसीलिए अक्सर पसीनेमें बदबू रहती है। यथोचित पाचनवालेके मलका रंग हल्का भूरा, मुलायम और बंधा और ऊपर एक श्लेष्मिक झिल्लीसे ढका होना चाहिए। उसकी शक्ल अंगूठेकी-सी होनी चाहिए। नरम, बंधा, गोलाई लिये, गुदा-द्वारसे चिपके बिना—लगे बिना—निकल जाना चाहिए। सभी तन्दुरुस्त जानवरोंका मल ऐसा ही होता है, स्वस्थ मनुष्यका भी ऐसा ही होना चाहिए। गुदा-द्वारकी रचनाकी दृष्टिसे पाचन दुरुस्त होनेपर मल गुदा-द्वारको गंदा किये बिना निकल जाना चाहिए। इसके सिवा मलमें कोई बुरी गंध भी न होनी चाहिए। यदि बदबू आये तो समझना चाहिए कि पाचनकी खमीरी क्रियामें कुछ व्यतिक्रम हुआ है। तब खुश्की या कब्ज पैदा होता है। आंतोंमें खुश्की आनेपर मल सख्तीसे चिपक जाता है और सरक नहीं पाता। उधर सड़ानकी (खमीर) क्रिया तो अन्दर जारी ही रहती है, इससे कड़े मलकी शक्ल बदलकर वह गैसको बढ़ाती है। गैस सारे शरीरमें पसरने लगती है। इस सड़ानकी क्रियाके कारण पैदा हुआ भीतरी दबाव और खिंचाव त्वचा और सिरोंकी ओर बढ़ता है। अब यदि गैस रूप बना हुआ दोष त्वचा द्वारा पसीनेकी शक्लमें बाहर निकल नहीं पाता तो वह त्वचाके नीचे अधिकाधिक जमा होता जाता है। इससे त्वचामें शिथिलता

बढ़ती है और मानव-देहके स्वाभाविक उत्तापमें (९८.४) कमी होने लगती है। सूक्ष्म रक्त-शिराएं दोषसे ऐसी ठंस जाती हैं कि शरीरको गरम रखनेवाला एकमात्र स्वस्थ रक्त शरीरके बाहरी भागमें आनेमें असमर्थ हो जाता है। इससे त्वचाका बाहरी ताप गिर जाता है और उसका रंग हरा पीला-सा (पांडु)—बदनुमा—हो जाता है। दोषकी और रक्तकी किस्मके अनुसार त्वचाके रंगमें अन्तर रहता है। किसीकी त्वचाका रंग सुर्ख हो जाता है, किसीका पीला, भूरा या हरियाली-मायल होता है। बाहर तापकी अल्पता भीतर तापका आधिक्य होने-पर, भीतरके अधिक और बाहरके कम तापके दबावमें पड़कर, वायुरूपी दोषको अधिक ठोस कर देता है। यह शरीरके ऊपरी भाग—ऊपरी जिल्द—को भर देता है। इस प्रकार शरीरकी बना-वटमें धीरे-धीरे फर्क पड़ता जाता है, जिसे हम दोषभार कहते हैं। इस दोषभारकी कमी या अधिकताका अंदाज मेरे 'मुखाकृति विज्ञान' के द्वारा लगाया जा सकता है। इस प्रकार एकत्र दोषके कारण, गर्दनसे ऊपरकी भी, सब बीमारियां—आंख, कान, मस्तिष्ककी कमजोरी, सिर-दर्द आदि—पैदा होती हैं। यदि हम इन अकाट्य नियमोंको समझ लें तो रोग-पीड़ित व्यक्तियोंकी तकलीफोंका बड़ा और असली कारण समझ सकते हैं, साथ ही डाक्टरों द्वारा ऐसी बीमारियोंके किये जानेवाले स्थानीय उपचारोंकी व्यर्थताको भी।

: ७ :

हम क्या खायें-पीयें ?

प्रायः लोगोंको कहते सुना जाता है कि मेरा हाजमा एकदम दुरुस्त है, मैं इतनी पूड़ियां और इतने लड्डू खा जाता हूं, इतना दूध पी जाता हूं, पर डकार तक नहीं लेता, मुझे सब चीजें भाती हैं, भूख तो मुझे गज़बकी लगती है। यह सब सच मानते हुए भी हम कहेंगे कि इस तरहकी आदत बहुत हानिकारक है। जैसे कोई रोज सौ सिगरेट पीनेकी शेखी मारे तो भी इससे तंबाकू शरीरके लिए जो जहरका काम करता है, उसमें कोई कमी नहीं आयेगी। यही दशा खान-पानकी भी है। पूर्णतया स्वस्थ आमाशय तो जरा-सा भी अनुचित भोजन ग्रहण करनेसे इन्कार करेगा, बेचैनी, गलेमें, पेटमें जलन तथा डकार द्वारा तुरत जता देगा कि खुराक ज्यादा हो गई है। कमजोर होनेकी दशामें आमाशय प्रकटमें तो हर चीज बर्दाश्त करता दिखाई देता है, यानी उसमें अनुपयोगी या फजूल खुराकके विरुद्ध बगावतकी शक्ति नहीं रही अथवा यह कहें कि आमाशयकी स्वाभाविकतामें विकार आ गया है। खुराक, बिना पूरी तरह पचे ही, शरीरसे निकल जाती है, शरीर इससे कोई फायदा नहीं उठा पाता। यह भली-भांति समझ लेनेकी बात है कि भिन्न-भिन्न खुराकोंका पोषण-मूल्य सब प्रकारसे और केवल आमाशयकी पाचन-शक्तिपर निर्भर है और निर्भर है शरीरकी अभिशोषण-शक्तिपर। किस भोजनमें कौन-

कौन-सा तत्त्व कितना-कितना है, पाचनकी दृष्टिसे यह बिलकुल गौण बात है। हम देखते हैं कि चोकरसहित आटेकी रोटी, ताजे फल, तरकारियां, जो सिर्फ उबाल ली गई हैं या भापसे पका ली गई हैं—बिना घी, तेल, चीनी, नमक, मसालों के—तली, छौंकी चीजों तथा मांस-मछली-अंडे-शराब आदि की अपेक्षा, कहीं अधिक अंग लगती हैं। निःसन्देह विश्लेषणकी दृष्टिसे तो मांस, मछली, अंडोंमें हमारे शरीरके लिए आवश्यक सब तत्त्व मौजूद हैं, पर यह इस बातका सबूत नहीं है कि उनसे हमारा शरीर पोषण ले पाता है। उन वस्तुओंमें पोषण-तत्त्वोंका होना या न होना कोई महत्त्व नहीं रखता, महत्त्व है हमारे शरीरकी ग्रहण-शक्तिका।

मनुष्य-शरीर अति साधारण खाद्य पदार्थोंमें-से जैसे—अनाजके दानोंमेंसे, रसायनशास्त्रकी दृष्टिसे उसके लिए आवश्यक सब तत्त्व लेनेमें समर्थ है। चोकरसहित आटेकी रोटीका अन्न भलीभांति चबाकर खाये जाने, मुंहकी लार मिल जानेपर हमारे मेदेमें पहुंचते ही खट्टा हो जाता है, पाचन-क्रियाके जरिए यह शरीरके लिए पोषक तत्त्वोंमें—मद्यसार, शकर इत्यादिके रूपमें—परिवर्तित हो जाता है। शरीर द्वारा यह तत्काल ग्रहण कर लिया जाता है, इसलिए कि उसने अपनी जरूरतके लिए अपनी मर्जीसे इसे तैयार किया है, ऊपरसे नहीं डाला गया है। अन्नका अंग न लगनेवाला भाग शरीरसे एक निश्चित रंग और निश्चित आकारमें बाहर निकाल दिया जाता है।

होनोलूलूसे मुझे एक उत्साही पादरी मित्रने लिखा था कि वहांके बाशिन्दे पहले एक प्रकारके कंदको पकाकर और उसमें केले वगैरह फल मिलाकर खाते थे और सुखी रहते थे। वे शायद ही कभी बीमार पड़ते थे। पर अंग्रेजोंने वहां पहुंचकर मांस और

शराब फैला दी, जिसके परिणामस्वरूप वहांके निवासी तरह-तरहकी बीमारियोंके—कोढ़, गरमी, सूजाक, खुजली, दमे आदिके—शिकार होने लगे।

हमारे समूचे शरीरका दो अंगों द्वारा पालन होता है, (१) फेफड़ा और (२) आमाशय। इन दोनोंके लिए प्रकृतिकी ओरसे नाक और जिह्वाके रूपमें एक-एक पहरेदार नियुक्त हैं। पर दुर्भाग्य-वश ये दोनों ही अपना काम सचाईसे पूरा नहीं करते। इसमें संदेह नहीं किया जा सकता कि हमारे फेफड़ोंके लिए सर्वोत्तम खुराक शुद्ध पहाड़ी हवा ही है। इस हवामें सांस लेनेमें हमें आनंद आता है। हमेशा शुद्ध हवामें रहनेवालेके लिए गंदी हवासे भरे कमरोंमें रहना असंभव ही होता है। प्रत्येक बार सांस लेनेमें उसे कष्ट होता है। पर उसके लगातार ऐसे गंदे स्थानोंमें जाने-आने लगने-पर उसे सचेत करनेवाली आवाज रोज-रोज क्षीण होती जाती है और अंतमें एकदम चुप्पी साध लेती है। अंतमें नौबत यहांतक आ जाती है कि वही गंदी हवा उसे अच्छी लगने लगती है। उसकी घ्राण-शक्ति विकृत हो गई रहती है और उसे सुधारनेमें समय लगता है। लेकिन घ्राण-शक्तिके दगा देनेका परिणाम हमारे शरीरको भोगना पड़ता है—शरीरमें सुस्ती आने लगती है। तब बुद्धि हमें बतलाती है कि हमें गंदी हवासे हानि हो रही है।

जीभकी हालत तो इससे भी बुरी है। दुर्भाग्यसे वह तो बच-पनसे ही बिगड़ी हुई रहती है। बिल्कुल ही अविश्वसनीय। यह अनुभवकी बात है कि हमें जिस चीजके खानेकी आदत पड़ जाती है उसीमें स्वाद आने लगता है। स्वाद आदतसे संबंध रखता है। स्वास्थ्यके लिए हमारे शरीरको सही तरहका पोषण मिलना बहुत

आवश्यक है। समस्त अप्राकृतिक खुराकें हमारे शरीरके लिए विजातीय हैं, वे शरीरको रोगी बनाती हैं।

क्या और कैसे खाना-पीना

पहले पीनेके बारेमें। हम देखते हैं कि संसारके अन्य सब प्राणी केवल उस बहते पानीसे, जिसपर सूर्यकी किरणें पड़ती हैं, अपनी प्यास बुझाना पसंद करते हैं। बहता और धूपसे संबंधित अथवा वर्षाका सफाईसे इकट्ठा किया हुआ जल ही पीनेके लिए उपयोगी होता है। यदि किसी पानीमें कुछ दोष हो तो उसे धूपमें रखकर निर्दोष किया जा सकता है।

आदमीको उसकी प्रकृति मसालेदार खुराक लेनेपर ही जल पीनेको विवश करती है। सादी, प्रकृतिदत्त खुराक, मौलिक रूपमें ग्रहण करनेपर तो प्यास बहुत कम लगती है। प्यासको ताजे रसीले फलोंसे बुझाना अधिक लाभकर है।

प्रकृतिका इशारा तो फलोंकी ओर ही है, इसलिए फल मनुष्यकी सर्वोत्तम खुराक है। सारे फल, अन्न, कंदमूल, जो दृष्टिको, गंधको और स्वादको आकर्षक लगें, हमारे खाद्यके लिए उपयोगी हैं। पृथ्वीपर सर्वत्र अत्यधिक ठंडे स्थानोंको छोड़कर, यह खुराक मिलती है। जिन ठंडे स्थानोंमें ये चीजें नहीं होतीं वे मनुष्यके बसने योग्य नहीं हैं।

प्रकृतिका खाद्य उपहार हमें यथासंभव उसके स्वाभाविक रूपमें ही ग्रहण करना चाहिए। पर बहुतोंके लिए दांतोंके कारण यह व्यावहारिक नहीं रह पाता। फिर भी, जहांतक संभव हो, हमें भोजनको मसालों द्वारा छौंकने-बघारने, तलने, गलानेसे—भांति-भांतिकी शक्लोंमें बदलनेसे—बचना चाहिए, क्योंकि कुदरत हमें

खुराक कभी इस शक्लमें नहीं देती। तेज मसालोंसे तथा चीनी और नमकसे भी यथा-संभव हमें बचना चाहिए।

भोजन बनानेका वर्तमान तरीका बहुत ही गलत है। जैसे, तरकारीको जिस पानीमें उबाला जाता है और जिसमें तरकारीका बहुत-सा पोषक पदार्थ आ जाता है, वह फेंक दिया जाता है और फिर वही तरकारी खानेके काममें लाई जाती है। यह बिल्कुल गलत है। सारी तरकारियोंको, जहांतक संभव हो, कम-से-कम पानी देकर पकाना चाहिए या भापसे पकाना चाहिए और वह पानी उसीमें रहने देना चाहिए।

लेकिन क्या खाना और क्या न खाना, इस संबंधमें हमें अपना निर्णय आप करना चाहिए। यदि कोई वस्तु खाकर हमारे पेटमें दर्द होता है, खट्टी डकारें आती हैं, हवा खुलती है, गलेमें जलन होती है या ऐसा ही कुछ और कष्ट होता है तो समझना होगा कि हमने आवश्यकतासे अधिक खा लिया है, अथवा गलत खुराक खाई है।

आरंभमें अधिकांश मरीजोंके लिए सर्वप्रथम चोकरदार मोटे आटेकी रोटी होगी, यदि यह सावधानीसे और पूरी तरह चबाई जाय। अगर यह न पचे तो भीगे हुए अंकुरित गेहूं खाना अच्छा होगा। इसे भी अच्छी तरह चबाकर खानेकी जरूरत होगी। रोगीके लिए खाना बहुत उचित मात्रामें, अल्प और उचित प्रकारका होना बहुत ही आवश्यक है। यदि रोगी बार-बार खाय तो अच्छे-से-अच्छा खाना भी हानिकारक होगा।

बीमारोंके लिए गेहूंका दलिया भी बहुत अच्छी खुराक है। दलिया खूब गाढ़ा बनाना चाहिए और इसमें कुछ मिलाना नहीं चाहिए। अगर कुछ डालना बहुत ही जरूरी हो तो जरा-सा

नमक और बिना उबला ताजा दूध डाला जा सकता है। दूध जब कभी लेना हो, कच्चा और बिना उबला लेना चाहिए। पहले उसे चख और सूंघकर देख लेना चाहिए। यदि गंध या स्वाद खराब लगे तो वह लेने लायक नहीं माना जायगा। यह न समझें कि उबालने-से वह काम लायक हो जायगा। उबला दूध पचनेमें भारी होता है, क्योंकि उसमें खमीरकी क्रिया बहुत धीमी गतिसे होती है। दूधको उबालनेसे उसकी खराबी कहीं बाहर नहीं चली जाती, वह उसके भीतर ही बनी रहती है। उबालनेसे दूधकी पोषण-शक्ति कम हो जाती है। यह शरीरको फुला देता है, पर शक्ति नहीं देता।

ताजे फल भोजनके समय खाये जा सकते हैं, यदि कुछ बानगी बढ़ानी हो तो। यद्यपि है यह अनावश्यक। हम भात जौ-गेहूंकी रोटी वगैरह और उसके साथ हरी सब्जीकी सिफारिश कर सकते हैं। स्वस्थ लोगोंके लिए तो खुराककी बेशुमार किस्में हैं।

मैं फिर सावधान करना चाहता हूं कि अधिक रोगी व्यक्तिको या जिसकी पाचनशक्ति बिगड़ी हुई है, सादी-से-सादी, पूरी तरह चबाई जा सकनेवाली खुराक ही लेनी चाहिए। ऐसे रोगीके लिए सर्वोत्तम खुराक चोकरदार मोटे आटेकी रोटी और फल हैं। पाचन सुधर न जानेतक स्वादकी ओर ध्यान देनेकी जरूरत नहीं है।

पूछा जा सकता है कि उपर्युक्त खुराक स्वाद भी लगेगी क्या ? मैं कहता हूं, स्वाद तो भूखमें है, स्वाद आदतकी बात है और स्वाद दिमागमें है। जिस चीजके खानेसे हमारा स्वास्थ्य सुधरता है, उसे हम स्वाद मानें। स्वाद तो चार अंगुलतक रहता है, फिर तो 'उतरा घांटी और हुआ माटी।'

मनुष्यके शरीरमें दोषसंचयका कारण तो अप्राकृतिक खुराक ही है। प्राकृतिक खुराकसे तो तभी कोई बुराई पैदा होती है जब कि वह ठीक पचती नहीं या आवश्यकतासे अधिक खाई जाती है। शरीरके दोषरहित होजानेपर तो प्राकृतिक खुराक हमें स्वस्थ ही रखेगी, बशर्ते कि हम स्वास्थ्यकी दूसरी शर्तें पूरी करें।

हमारा भोजन और उसका क्रम

नाश्ता : रोटी और फल या दलिया और फल। दूध लें तो कच्चा।

दोपहरका भोजन : चोकरदार मोटे आटेकी रोटी अथवा, किसी अन्य अन्नका गाढ़ा—पतला नहीं—दलिया। चना, मूंग मोठ खड़े, बहुत थोड़े पानीमें पकाकर लिये जा सकते हैं। वह पानी फेंकना नहीं चाहिए। अच्छा होगा कि अन्नको पहले भिगो दिया जाय और फिर भापसे पका लिया जाय। तरकारी वह लेनी चाहिए, जो उस क्षेत्रमें मिलती हो, मौसमकी हो। फल भी ताजे लने चाहिए।

शामको : रोटी और ताजे फल या दलिया और फल। तरकारियां सभी तरहकी भाप से पकाकर ली जा सकती हैं, जरा-सा घी और नमक देकर। घी और नमकके बारेमें यह समझ लेना चाहिए कि अगर उसके बिना खुराक बिल्कुल ही न भाये तो भले ही जरा-जरा ले लें, पर न लेना अधिक लाभदायक होगा।

तरकारियां अलग-अलग ली जा सकती हैं या कई तरकारियां एकमें पकाई जा सकती हैं।

आलू भी लिये जा सकते हैं, लेकिन उन्हें भी छौंक-बघारकर नहीं, योंही छिलका उतारकर ले लेना चाहिए।

'कोल्ड स्टोरेजके आलू बिलकुल नहीं लेने चाहिए। ताजे मिलें तभी तक लेने चाहिए।

खण्ड २

: १ :

स्नायवीय, मानसिक तथा उन्निद्र रोग

स्नायवीय रोगोंकी तो इस युगमें बाढ़-सी आ रही है। सूक्ष्म लक्षणोंको लेकर डाक्टर उनके नामोंकी तादाद बढ़ाते जा रहे हैं। जैसे, नर्वसनेस,[१] न्यूरेस्थेनिया,[२] न्यूरेलजिया,[३] हाईपोकोन्ड्रिया,[४] हिस्टीरिया,[५] इन्सैनिटी,[६] इम्बेसिलिटी,[७] पैरेलिसिस[८] आदि रोगोंको आज सब जानते हैं।

प्रायः सब स्नायु-रोगियोंमें भीतरी परेशानी और बेचैनीका एक लक्षण हमेशा पाया जाता है। रोगी सदा कुछ कष्ट-सा अनुभव करता रहता है। पर वह उस कष्टका कोई नाम नहीं बता पाता और न वह उसका कारण ही समझ पाता है।

इनमेंसे कितनोंको ही हम बहुत बोलनेवाला पाते हैं और किसी-किसीको बिल्कुल चुप्पा। इनमें कितनेही उन्निद्र रोगसे पीड़ित होते हैं। कितने ही अति चंचल तो कुछ बिल्कुल सुस्त। एक दुनियाको घोर दुःखका आगार मानकर आत्महत्या करनेकी सोचता है; कुछ लखपति, करोड़पति होते हुए भी भविष्यके खाने-पहननेकी और इस चिन्तासे परेशान हैं कि कैसे गुजर होगा उनका। कुछ हमेशा भयभीत रहते हैं। बहुतोंमें पागलपनके बिल्कुल

---

[१] शीघ्र क्षुब्धता [२] स्नायुदौर्बल्य [३] स्नायुपीड़ा, दौरेवाली [४] अपचजन्य स्नायु रोग [५] फिट आना [६] पागलपन [७] मानसिक अथवा शारीरिक दौर्बल्य, [८] लकवा

विभिन्न लक्षण मिलते हैं। कुछके शरीरका एक भाग सूना हो जाता है, कुछका सारा शरीर। इनमें सबसे भयंकर लकवा होता है।

इन रोगोंके कारण काम करनेकी शक्तिका लोप होते देखा जाता है। कोई शरीरके अंगोंपर अधिकार खो देता है, कोई दिमाग-पर, विचार-शक्तिपर और शब्दोंपर। एक हजार रोगियोंको जांच-के लिए लेनेपर किन्हीं दोके लक्षण शायद एक हों। ऐसी दशामें यह आश्चर्यजनक नहीं है कि डाक्टर अबतक इसके कारणोंका पता लगानेमें असमर्थ रहे हैं। अन्य रोगोंकी भांति इन रोगोंमें भी दवाएं कोई सुधार नहीं कर पाती हैं। हां, कभी-कभी स्नायुओंको निष्क्रिय—बेकार अवश्य कर देती हैं।

इस सिद्धांतको हमें भलीभांति हृदयंगम कर लेना चाहिए कि ओषधियां कभी, कोई काम नहीं करतीं, जो कुछ होता है वह शरीरकी ओरसे ही होता है। शरीर दवाके हानिकर प्रभावसे अपनी रक्षाके लिए उसे बाहर निकालनेकी कोशिश करता है—कभी ज्यादा कभी कम।

दवाके जहरको बाहर निकाल देनेके लिए शरीरमें जोरदार क्रिया तभी होती है जब दवाकी मात्रा अल्प होती है और वह शरीरको निष्क्रिय नहीं कर पाती। लेकिन डाक्टरीकी बड़ी-बड़ी खुराकों और तेज दवाइयोंके परिणामस्वरूप तो हमारी नाड़ियां बिलकुल अशक्त हो जाती हैं। उसी प्रकार उस समय शरीरकी अपनेको पुनर्स्वस्थ करनेकी कोशिशें (उग्र रोग) और जीर्ण रोगके बाहरी लक्षण भी सुप्त हो जाते हैं। डाक्टरी दवामें रोग जो दबते जान पड़ते हैं उसका यही कारण है। दवा देते ही स्नायुओंके मुर्दार—मूर्च्छित हो जानेके कारण रोग दब जाते हैं। तेज जह-

दवाएं बड़ी-बड़ी मात्राओंमें शरीरको इतना अक्षम कर देती हैं कि फिर व्यक्ति खत्म होकर ही रहता है। यदि दवाकी मात्रा अल्प हुई तो यह अक्षमता प्राणघातक न होने पर भी, सारे शरीर-को हानि तो अवश्य ही पहुंचाती है। निस्संदेह आजके बहुतेरे स्नायविक विकारोंका कारण वे दवाएं हैं जो साधारण रोगोंको मिटानेको दी जाती हैं।

अत्यल्प मात्रामें दी गई दवाका असर अक्षमताके विरुद्ध होता है। बजाय अक्षम होनेके शरीर उस विषसे अपनेको मुक्त करनेकी दूनी कोशिश करता है। पर बढ़ी हुई क्रियाशक्ति अक्ष-मताकी पहली सीढ़ी है यानी अक्षम होनेकी तैयारीके सिवा वह और कुछ नहीं है।

सबको यह मालूम है कि स्नायविक रोगोंमें डाक्टरी दवाइयां बिलकुल बेकार साबित होती हैं। डाक्टर स्वयं भी इस संबंधमें अपनी असमर्थता स्वीकार करते हैं। कह देते हैं कि रोगीको हवा बदला लाइए, घुमा लाइए या उसका मन किसी दूसरी चीजमें लगाइए। इससे कुछ लाभ अवश्य होता देखा जाता है। पर हमारे सामने डाक्टरीके अज्ञानका पर्दाफाश भी होता है।

स्नायविक रोग भी शरीरमें दोष-संचयसे ही पैदा होते हैं, इस कथनपर बहुत लोगोंको आश्चर्य हो सकता है। लेकिन सोचिए कि हमें सर्वप्रथम रोगकी अनुभूति कब होती है? तब, जबकि संचित दोष हमारे शरीरकी साधारण क्रियामें—काम-काजमें कोई रुकावट पैदा करता है, यानी कोई क्रिया उग्र या क्षीण हो जाती है अथवा कोई दर्द उठता है। यह रोगकी कुछ बढ़ी हुई दशाका परिचय देता है। मुखाकृति विज्ञानकी सहायतासे हम इसे सही-सही जान सकते हैं। दोष-संचय केवल शरीरके भिन्न-

भिन्न अंगोंके कामोंमें ही गड़बड़ नहीं करता, बल्कि उसी प्रकार इन अंगोंसे संबंधित स्नायुओंमें भी अव्यवस्था उत्पन्न करता है। इनकी क्रियाका संचालन करनेवाले स्नायु-जालपर असर न होनेतक हमें रोगका पता भी नहीं चलता।

पहले कहा जा चुका है कि स्वस्थता-प्राप्तिकी पहली शर्त सही पाचन है, क्योंकि सारा दोष पितृ-परम्परासे या बिगड़े हुए पाचनसे ही पैदा होता है। प्रत्येक रोग, और इसी प्रकार सारे स्नायविक रोग, खराब पाचनके परिणाम हैं या फिर पैतृक हैं। किसी भी बीमारीका आम सबब यही है। शरीरमें पूर्ण जीवनी-शक्ति होनेपर तो वह उग्र रोगके रूपमें इस दोषको बाहर निकालनेकी कोशिश करती है, और उसके अभावमें ही जीर्ण रोग होते हैं। ऐसी बीमारियां कभी खत्म नहीं होतीं, शक्ल बदलती रहती हैं और अन्तमें अपनी पूरी बाढ़पर यानी स्नायविक और मानसिक रोगके रूपमें जा पहुंचती हैं। स्नायविक रोग सिर्फ जीर्ण (दबे हुए) शारीरिक विकार-मात्र हैं, लक्षण उनके चाहे जो हों।

स्नायविक रोगोंमें, अन्य सब रोगोंकी भांति ही, हम एक विशेष लक्षण, ठंड लगते रहनेका पाते हैं। कंपकंपी या तापकी अधिकता ये दोनों ही शरीरके भीतरसे तापयुक्त होनेके परिणाम हैं। इस दृष्टिसे स्नायविक रोग केवल जीर्ण ज्वर मात्र है।

इस प्रकार यह समझ लेनेपर कि स्नायविक रोगोंका कारण भी वही है कि जो चेचक, डिप्थीरिया या गठियाका है तो फिर यह समझना भी मुश्किल न होना चाहिए कि उक्त बीमारियोंवाला इलाज ही स्नायविक रोगोंके लिए भी जरूर लाभदायक होगा। मैंने हजारों रोगियोंमें इस सचाईका अनुभव किया है।

स्नायविक रोगोंके बारेमें हम डाक्टरोंकी भांति अपंग नहीं

हैं। कारणका पता न होनेके कारण उन्हें इसके उपचारका भी ज्ञान नहीं है। शरीरके अलग-अलग हिस्सोंके विशेषज्ञ बननेवाले तो और अधिक भ्रममें रहते हैं। कारण, वे चिकित्साके लिए पूरे शरीरको छोड़कर उसके टुकड़ोंको लेते हैं। ये विशेषज्ञ स्वयं धोखेमें रहनेके साथ ही जन-साधारणको भी धोखेमें डालते हैं। कुदरतके कानूनसे अपरिचित व्यक्ति रोगके भिन्न-भिन्न रूपोंको देखकर भ्रममें पड़ता है। जैसे, एकही जल ताप (टेम्परेचर) के कारण तरल, बरफ, कुहरा, भाप और बादलकी शक्लमें बदलता है, वैसे ही रोग भी भिन्न-भिन्न रूप लेता है।

वे इसके निदानमेंभी असमर्थ रहते हैं। डाक्टर एक स्नायविक रोगीको देखकर कहेंगे कि इसे कुछ नहीं हुआ है। रोगी तकलीफसे मर रहा है और डाक्टरकी जांचमें कुछ हुआ ही नहीं है। ऐसे काफी रोगी इस नई चिकित्साविधिसे अच्छे हुए हैं। उनके शरीरसे ज्यों-ज्यों दोष निकलता गया, उनकी दशा **सुधरती गई**।

मुखाकृति-विज्ञानकी बदौलत रोगके प्रकट होनेके पूर्व ही पीठका दोष-संचय देखकर स्नायविक रोग-संभावनाका अनुमान किया जा सकता है।

मानसिक रोग : डाक्टर इनका भी सही कारण नहीं जानता। प्रायः मानसिक रोगोंका कारण मस्तिष्कमें विकार कह दिया जाता है। पर वास्तवमें उसका कारण वर्षोंसे शरीरमें एकत्र होता हुआ दोष-संचय है। मानसिक रोगमें और तथा-कथित अग्रसर लकवेमें अंतिम और प्रायः असाध्य दशा आ जाती है। यह अप्राकृतिक जीवन व्यतीत करनेके कारण पाचन बिगड़नेसे होनेवाले अधिक रूपमें दोष-संचयके परिणामस्वरूप होती है और

उस दशामें, जबकि पिछले हिस्सेके दोषभारसे मस्तिष्क आक्रांत होता है ।

सभ्यताकी वृद्धिके साथ-साथ मानसिक रोग बढ़े हैं। क्योंकि अधिक सभ्य बने हुए लोग कुदरती नियमोंका अधिक भंग करते हैं—कुदरती नियमोंके ज्यादा खिलाफ चलते हैं। इसमें बड़ा हाथ तो डाक्टरीका भी है। उसके सिद्धान्त और दृष्टिकोण कुदरतकी शिक्षाके सर्वथा विरुद्ध पड़ते हैं । स्वच्छ जल पीना हानिकर बतलाया जाता है, लेकिन उसके बदले चाय, काफी, सोडा, लेमनेड आदिको लाभदायक कहा जाता है। इन चीजोंके पीनेका तथा सिगरेट-बीड़ी एवं अन्य नशों का अवश्यंभावी परिणाम शरीरमें सुस्ती—कमजोरीका होना है । तभी, थके हुए स्नायुओंको सदा किसी-न-किसी प्रकारके उत्तेजक पेय की जरूरत पड़ती है ।

गांवोंमें जहां अभी शहरी सभ्यताके कदम नहीं पहुंचे हैं वहां लोग प्राकृतिक नियमोंपर चलना भूले नहीं हैं। स्वच्छ हवामें रहते हैं, मोटा खाना खाते हैं, परिश्रम करते हैं। जहां डाक्टरोंकी मेहरबानी नहीं हुई है, वहां मानसिक रोगोंका नाम भी कोई नहीं जानता। अगर कोई मिलते भी हैं तो वे नियमित पियक्कड़ोंकी संतान होते हैं। ऐसे लोग पैतृक दोषसंचयसे ग्रस्त रहते हैं, जिससे उन्हें मानसिक या दूसरे किन्हीं भयंकर विकारोंसे पीड़ित रहना पड़ता है। संतान तो पिताके प्रायः अनुरूप ही होती है। नशेबाजोंको तो हमेशा दिमागी रोगोंसे पीड़ित रहना पड़ता है । **गर्भाधान कालमें यदि पिता नशेमें है तो होनेवाली संतान पर उसका असर या प्रभाव जरूर पड़ेगा । वह बच्चा हमेशा कुछ मस्तिष्क-दोषसे पीड़ित रहेगा। उम्र भी कम पायेगा।**

कोई भी मानसिक विकार, पैतृक हो अथवा स्वकृत, दोष-

संचयके कारण, पाचन-विकृतिके फलस्वरूप, ही होता है और अन्य रोगोंकी भांति उसका भी उत्पत्ति स्थल पेड़ ही होता है।

पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियां मानसिक रोगोंसे कम पीड़ित पाई जाती हैं। कारण, स्त्रियां प्रायः बीड़ी-सिगरेट आदि नशोंसे बची रहती हैं।

शरीरमें, सामयिक कारणोंसे, दोषसंचयके घटते-बढ़ते रहनेके हिसाब से, मानसिक रोग भी घटते-बढ़ते रहते हैं। अग्रसर लकवा मानसिक रोगकी बढ़ी हुई दशाके सिवा कुछ नहीं है। डाक्टरोंके मुंहसे यह सुनकर कि अमुकको लकवा मार गया, पर उसकी तन्दुरुस्तीमें कोई खराबी नहीं थी, हमें उनकी समझ पर तरस आता है। वे आदमीको मोटा-ताजा देखकर ही उसके स्वास्थ्यका अंदाज़ करते हैं। मुखाकृति विज्ञानसे परिचित व्यक्ति तो बहुत पहले ही इसकी सूचना दे सकता है। यह कथन नितांत मूर्खतापूर्ण होगा कि शरीरसे पूर्ण स्वस्थ मनुष्य यकायक मानसिक रोगसे पीड़ित हो गया।

मानसिक रोग शरीरसे दोष-संचयको निकालकर ही मिटाये जा सकते हैं। पर यह उसी दशामें जबकि रोगी इलाज करने-करानेकी हालतमें हो।

: २ :

फेफड़ोंके रोग

फेफड़ोंका क्षय या राज्यक्ष्मा इस जमानेकी भयंकर बीमारी है। बालक, वृद्ध, युवा, नर, नारी, अथवा किसी भी पेशेवाला इसके चंगुलमें आ सकता है।

इतनी फैली हुई दूसरी कोई बीमारी नहीं है। इसमें विभिन्नता इतनी होती है कि शायद ही दो रोगी एक-से लक्षणोंवाले मिलें। एकको सांस लेनेमें कष्ट होता है, दूसरेको दम आता है, तीसरेको सिरमें पीड़ा होती है तो किसीका पाचन बिगड़ा रहता है, कुछ हफ्ते-दो हफ्ते बाद ही मृत्युको प्राप्त होनेवाले होते हैं। पर उन्हें कुछ पता नहीं चलता। अकस्मात् फेफड़ेमें शोथ आ जाता है, किसीको द्रुतगामी (galloping) क्षय प्रकट हो जाता है और वह कुछ ही दिनोंमें खत्म हो जाता है। कोई फेफड़ेमें छिद्र होनेसे पीड़ित रहता है, बहुतेरे फेफड़ोंके रोगसे पीड़ित व्यक्ति कंधोंके दर्दसे कष्ट पाते हैं, अन्य आंख और कानकी पीड़ासे। प्राय: इसमें गलेकी तकलीफ रहती है, श्वास-नलिकामें कफ, खांसी और पुराने जुकामके रूप में क्षयके चिह्न प्रकट होते हैं। किसी-किसीके पांवपर बहते घाव होते हैं। अधिकांश क्षयके रोगियोंकी यह खास पहचान होती है कि वे अक्सर मुंहसे सांस लेते हैं। सिर्फ दिनमें ही नहीं, रातको सोनेमें भी। सांस जल्द लेनेके लिए उन्हें मुंह खुला रखना पड़ता है। कारण,

शरीरमें तापकी अधिकतासे बाहरी ठंडी हवाकी अधिक मांग रहती है। फेफड़ोंका धर्म है शरीरमें संचार करनेवाले रक्तको ताजी बाहरी हवा लेकर निरन्तर साफ करते रहना। अपना काम न कर पानेकी वजहसे उनमें दोष-संचय हो जाता है। वह गंदगी, जो श्वास द्वारा बाहर निकल जानी चाहिए थी, शरीरके अन्दर रह जाती है। रक्त-शुद्धि-का भार फेफड़ोंपर है, इसलिए उन्हींपर सबसे ज्यादा बीतती है। परिणामतः, रक्तकी दशा असाधारण हो जाती है, शरीरके भीतर खुश्की और ध्वंसकारी ताप पैदा हो जाता है। इसके कारण फेफड़ोंमें जलन और सड़न पैदा हो जाती है। सड़े हुए हिस्सेको ही मृतमांस (dead tissues) कहते हैं। यही कफके रूपमें बाहर निकलते हैं।

आज तो सभी क्षयकारी रोग भयंकर समझे जाते हैं, क्योंकि डाक्टर तो इन रोगोंके बारेमें तबतक किसी नतीजेपर नहीं पहुंच पाते जबतक कि रोग दुस्साध्य दशामें नहीं पहुंच जाता है। फेफड़ोंके उन छिद्रोंको भरने या फेफड़ोंके रोगको आराम करनेमें डाक्टरोंकी दवा या चीर-फाड़ बेकार होती है। वास्तवमें फेफड़ोंके नाशको रोकनेवाली कोई दवा डाक्टरीमें नहीं है। लेकिन इस नई चिकित्सा द्वारा ठंडे स्नानोंके तरीकेसे यह काम आसानीसे सिद्ध हो सकता है। लेकिन यह तभी सम्भव है जबकि मुखाकृतिविज्ञानकी मददसे रोगका उसकी आरम्भिक दशामें ही अनुमान कर लिया गया हो। मुखाकृतिविज्ञानका तरीका क्षयके सम्बन्धमें विशेष रूपसे लाभदायक सिद्ध हुआ है। इस रोगकी प्राथमिक दशामें रोगीको तो इस बीमारीका अनुमान तक नहीं होता। इसलिए

उसे यह विश्वास दिलाना बहुत ही मुश्किल होता है कि इस रोगकी ओर उसका झुकाव है।

फेफड़ोंके रोगका कारण

ये रोग दूसरी बीमारियोंको दवाके द्वारा दबा दिये जानेके परिणामस्वरूप होते हैं। फेफड़ोंके अनेकानेक रोगोंकी जड़में धातु-सम्बन्धी रोग होते हैं। बच्चोंमें इनके होनेका कारण पैतृक होता है। माता-पिताके शरीरमें दोष जीर्ण दशामें रहता है और उस अवस्थामें गर्भमें आनेवाला बच्चा क्षयग्रस्त हो जाता है। वीर्य वास्तवमें वह सार पदार्थ है, जिसके द्वारा माता-पिताके सारे गुण और स्वभाव बच्चेमें उतरते हैं। गंडमाला-पीड़ित व्यक्ति निर्विवादरूपसे आगे चलकर यक्ष्माग्रस्त होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि गंडमाला क्षयका पूर्व रूप ही है। इससे यह भी पता चलता है कि आरम्भमें यानी गंडमालाकी दशामें शरीरमें दोषको बाहर निकालनेकी भरपूर शक्ति रहती है और इस वजहसे फेफड़े बचे रहते हैं। शनैःशनैः यह शक्ति नष्ट हो जाती है और अन्तमें फेफड़ोंका क्षय होने लगनेपर शरीर अपनी रक्षा नहीं कर पाता। व्यक्तिका यकायक क्षयाक्रान्त हो जाना बिलकुल असम्भव है। क्षय-कीटाणुओंके श्वास द्वारा अंदर जानेपर भी क्षयके पनपनेके लिए अंदर बहुत नाशक ताप होना जरूरी है। इस असाधारण तापकी उपस्थितिमें क्षय-कीटाणु पनप सकते हैं। इतना अधिक ताप शरीरमें सिर्फ तभी सम्भव है कि जब शरीरमें दोष पीढ़ियोंसे चला आता हो अथवा जीवनकी गलत पद्धतिपर चलकर रोगीने अपने शरीरको बिलकुल बरबाद कर लिया

हो। इससे सिद्ध है कि फेफड़ेके समस्त रोग अपनी जड़ पेड़ में रखते हैं, यानी पाचन-शक्तिकी खराबी से होते हैं। रोगके पैतृक होनेपर भी यह नहीं कहा जा सकता कि पहले ही फेफड़े दोषसे आक्रान्त हो गये। होता यह है कि पैतृक दोषके कारण दूसरे अंगोंके मुकाबलेमें फेफड़ें पूर्णरूपसे विकसित नहीं होते, कमजोर और नाजुक रह जाते हैं। अतः संघर्षके लिए अयोग्य होते हैं। उस दशामें फेफड़ें स्वभावतः विशेष दोष-संचयके स्थल बन जाते हैं। पाचनकी खराबीके कारण शरीरमें एकत्र दोष वहीं जाकर जमा होता है, जहां उसे विशेष विरोध नहीं मिलता। जिनका झुकाव पैतृक कारणोंसे फेफड़ोंकी बीमारियों-की ओर हो, उन्हें शरीरमें दोष जमा न होने देनेके लिए बहुत सावधान रहना चाहिए।

क्षय-पीड़ितोंमें देखा गया है कि उन्हें अच्छा-से-अच्छा भोजन देनेपर भी शरीरको पोषण नहीं मिलता। शरीर-में भोजनका लगना भोजनकी किस्मपर—उसके पोषक तत्त्वोंपर नहीं, पाचनकी शक्तिपर निर्भर है। हर रोगीकी पाचन-शक्तिमें विभिन्नता पाई जाती है। शरीरमें पहले से—जन्मसे—दोष-संचय रहनेपर तो फेफड़ोंको खासतौरसे खतरा रहता है। फेफड़ोंमें आयतनकी अधिकताके कारण दोषके ऊपर—सिरकी ओर बढ़नेपर—अक्सर वह फेफड़ोंमें-से अपना मार्ग बनाता है। उस दशामें यदि फेफड़े पहलेसे ही दोषपूरित हुए तो वे दोषके गढ़ बन जाते हैं। दोष वहीं जमा होने लगता है, उसकी गति सिरकी ओर नहीं रह जाती।

फेफड़ोंमें प्रकोप शुरू होनेपर, दोषके सिरोंकी ओर बढ़नेकी प्रवृत्तिके कारण, पहले प्रायः उनका अग्रभाग नष्ट

होता है। फेफड़ोंका अग्रभाग कंधोंके पास जाकर मोड़ लेता है। प्रकोपके समय प्रकुपित द्रव्य आगे न बढ़ पानेपर सिरोंको दबाता है। उस दशामें कंधोंमें पीड़ा होना स्वाभाविक है। इसीलिए क्षय रोगीके कंधोंमें प्रायः चुभन होती है।

क्षय-ग्रन्थियोंका कारण और निवारण

क्षय-ग्रन्थियोंकी (Tubercular nodules) उत्पत्ति, बवासीर ग्रंथियोंकी अथवा कहिए सारे प्रकारकी ग्रंथियों-की, यहांतक कि छोटी-से-छोटी फुन्सीकी भांति ही होती है। फोड़ा बननेकी जगह कुछ दिनों, या कुछ हफ्तों, पहले सख्त लगती है और वहांकी चमड़ी सुर्ख दिखाई देती है। त्वचाके नीचे धीरे-धीरे एक गांठ-सी बन जाती है, जिसमें दर्द और जलन होती है। त्वचा सिकुड़ती है और व्यक्तिको हिलने-डुलनेमें बहुत कष्ट होता है। फोड़ा पूरी तरह बढ़ जानेपर त्वचा नरम पड़ जाती है। अन्तमें उसमें एक सूराख बन जाता है और उसमेंसे गन्दगी—मवाद बाहर निकल जाती है। इस प्रकार जिस गन्दगीको लेकर फोड़ा बना था, वह शरीरसे सीधे बाहर निकल जाती है। यह सारा काम शरीर, या प्रकृति स्वयं करती है। यह काम जीवनी-शक्तिके अनुसार ही होता है। पूरी जीवनी-शक्तिके अभावमें या दवा द्वारा जीवनी-शक्तिके कमजोर कर दिये जानेपर, गंदगी बढ़ती रहती है। उसमें फोड़ोंकी भांति ही खिचाव होता रहता है, पर शरीरसे त्वचातक फोड़ेकी शक्लमें नहीं आ पाता, जगह सख्त तो हो जाती है। उसमें कोई तकलीफ नहीं होती, लेकिन क्रिया वहीं रुकी रहती है और फोड़ेके बजाय वहां गांठ बन जाती है। यह

एक अविकसित फोड़े या दोष-संचयके सिवा और कुछ नहीं है, जो बहुतोंके शरीरमें एक स्थानपर रुका रहता है। शरीरमें काफी जीवनी-शक्ति मौजूद रहनेपर उन गांठोंको बाहर--त्वचापर लाया जा सकता है। ऐसी गांठें प्रायः गर्दनमें तथा शरीरके अन्य भागोंमें भी देखी जाती हैं या टटोलनेपर मालूम होती हैं। जब गांठें शरीरके भीतरी भागमें बनती हैं, तब उन्हें बवासीर, क्षयग्रंथि या कैंसर ग्रन्थि कहते हैं। शरीरकी जीवनी-शक्तिको किसी तरह बढ़ानेमें सफल होनेपर उन गांठोंमें परिवर्तन होता है। कई बार जल-चिकित्साके प्रयोगमें फोड़े निकलते देखे जाते हैं। नई चिकित्सा-विधिसे इन फोड़ोंमें जमा हुई गंदगीको निष्कासन मार्गोंके पास पहुंचा दिये जानेका उपाय कर देने और खुराक द्वारा नई गंदगी शरीरमें न जाने देनेपर त्वचापर दुखदायी फोड़े कदापि न बनेंगे। क्योंकि उस दशामें गांठें शरीरमें जैसे बनी थीं वैसे ही विलीन हो जायंगी। इस दृष्टिसे क्षय-ग्रन्थियां भी अन्य अधूरे फोड़ोंके तुल्य ही हैं। भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके विभिन्न स्थानोंमें गांठोंका बनना सिर्फ दोष-संचयके अन्तरपर निर्भर है।

क्षयग्रंथियोंके या सब तरहकी गांठोंके होनेका कारण समझ लेनेपर उपचारमें भी कोई कठिनाई नहीं रह जाती। डाक्टरोंका इन गांठोंकी चीर-फाड़ करना बिल्कुल गलत काम है। कारण दूर किये बिना, लक्षण मिटानेसे क्या लाभ? गांठोंको खोने-का आसान तरीका शरीरकी जीवनी-शक्तिको बढ़ाना है, जिससे वह भीतर मौजूद गंदगीको निकाल सके। हां, इस प्रकार गांठोंको पूरी तरह खोनेमें कभी-कभी बहुत लम्बा—सालोंका समय भी लग सकता है।

डाक्टर लोग हर बीमारीके लिए एक अलग कीटाणु खोजते हैं। वे भूल जाते हैं कि जैसे एक ही प्रकारके पौधे और पक्षी भी भिन्न-भिन्न आब-हवामें भिन्न-भिन्न रूप धारण करते हैं, वैसे ही कीटाणु भी भिन्न-भिन्न तापमें, आब-हवामें, अलग-अलग रूप और आकार पकड़ते हैं।

इस नई चिकित्सा-विधिसे क्षयको भली-भांति आराम किया जा सकता है। इसके लिए भीतरके अत्यधिक तापको घटाना और जीवनी-शक्तिको बढ़ाना जरूरी है। इसके लिए भोजन-सुधार का, दूसरे नियमोंका तथा नई चिकित्सा-विधिके स्नानोंका प्रयोग आवश्यक है।

भीतरी तापके लिए दिनमें एक बार स्नान लेकर छोड़ देना कारगर नहीं होता, रोगीकी दशाके अनुसार स्नानोंका यथावत् क्रम चलाना आवश्यक है। इस तरीकेको भलीभांति जाननेवाले किसी व्यक्तिसे समझ लेना चाहिए। बिना समझे करनेमें अक्सर गलती हो जाती है। चंगे होनेके लिए रोगीको हमेशा प्रकाश और खुली हवामें रहना चाहिए। क्षयवालोंके लिए धूपनहान तो बहुत ही लाभदायक है। क्षयके बीमारका आराम होना उसकी जीवनी-शक्तिपर निर्भर है। रोगीकी पाचन-शवित को पूरा-पूरा सुधार पानेपर उसके बहुत जल्द नीरोग हो जानेकी आशा की जा सकती है। अन्यथा उसका आराम होना मुश्किल होता है।

शरीर काफी सशक्त होनेकी हालतमें फेफड़ोंमें-से और पेड़ूमें-से दोषको निकालनेके लिए घर्षण मेहन-स्नान बहुत लाभदायक है। भाप-नहानसे भी अच्छा लाभ होता है, लेकिन गरमीके दिनोंमें उसके बदले धूप-नहान देना चाहिए। भोजन-

सुधार और ताजी हवाका सेवन तो अनिवार्य है ही।

बीमारीके बहुत बढ़ी हुई होनेपर घर्षण मेहन-स्नान अधिक उत्तेजक हो सकते हैं। उसके बदले साधारण घर्षण कटि-स्नान देना अच्छा है। पानी ८१ से ८६ डिग्री गरमीका होना चाहिए और कंधोंतक पहुंचना चाहिए। शरीरमें शक्ति आ जानेपर घर्षण मेहनस्नान लेना चाहिए।

: ३ :

जननेन्द्रिय रोग

जननेन्द्रिय रोगोंके बारेमें कहते-सुनते शरमाना बहुत गलत है। इसके सम्बन्धमें अज्ञानके कारण लोग बहुत कष्ट उठाते हैं। ऐसे रोगियोंको डाक्टर-वैद्य बुरी तरह ठगते हैं। वर्तमान कालमें ये रोग बहुत फैले हुए हैं—खासकर उपदंश—गरमी (सिफलिस)। इसके कारण लाखों व्यक्ति अकथनीय संकट झेलते हैं।

गरमीके इलाजमें डाक्टर-वैद्य बिल्कुल सफल नहीं होते। वे अधिक-से-अधिक इतना ही कर पाते हैं कि रोगीको पारे आदि के मिश्रण सेवन करा-कराकर एक बार रोग को दबा देते हैं। इसीको रोगमुक्ति कहा जाता है। दुर्भाग्यवश रोगी भी यही समझता है। लेकिन इसके कारण उसपर बेहद विपत्तियां आती हैं। स्त्रीसे संयोग होनेपर वह उसे भी इसकी छूत दे देता है। स्त्रीके स्वस्थ न होनेकी दशामें, उपदंशग्रसित पुरुषके संयोगसे उसे यह रोग होना स्वाभाविक है। ऐसे माता-पिता-की सन्तान भी सदा अकर्मण्य और अविकसित होती है। वास्तवमें प्रकट उपदंशकी अपेक्षा दबा हुआ उपदंश अधिक भयंकर होता है।

इसलिए स्त्री-पुरुषके सम्भोगमें इसपर अधिक ध्यान देना आवश्यक है। त्वचामें सोखनेका गुण होनेके कारण, लेपके प्रभावकी भांति, स्त्रीसे वर्तमान दूषित द्रव्य पुरुषमें, और इसी

प्रकार पुरुषसे स्त्रीमें चला जा सकता है। यदि पुरुषमें स्त्रीकी अपेक्षा अधिक दोष-संचय है तो उसके शरीरके रसोंसे बना हुआ वीर्य स्त्रीके शरीरमें जाकर उसमें यदि रोग हुआ तो उसकी मात्राको बढ़ा देगा।

कामचेष्टा सभीमें होती है, सब उससे परिचित होते हैं; पर उसके जिक्रमें बड़ा संकोच किया जाता है, मानों वह कोई बड़ा पाप हो। कब यह उचित है, कब नहीं, यह विचार करना तक उचित नहीं समझा जाता। आत्मरक्षाके बाद मनुष्यमें सबसे बलवान इच्छा प्रजननकी ही होती है। अन्य इच्छाओंकी भांति ही इस इच्छाके भी शुद्ध और अशुद्ध दो रूप होते हैं। कामचेष्टा व्यक्तिकी नीरोगिताका अच्छा मापदण्ड है। शरीरमें दोष-संचयकी अधिकता होनेपर काम-वासना बढ़ती है और इससे वीर्यमें धीरे-धीरे कमी होती जाती है। काम-चेष्टाकी शुद्ध दशा व्यक्तिको निकृष्ट काम-वासना और बुरे विचारोंसे बचाए रखती है। नीरोग मनुष्योंमें ही यह दशा ठीक रहती है। अनुत्तेजक भोजन और संयमी जीवन द्वारा काम-वासनाको वशमें रखा जा सकता है। रोगकी जीर्ण और सुप्त दशामें इसका रूप भी असाधारण होता है।

जननेन्द्रिय-सम्बन्धी रोगोंका शिकार दोष-संचययुक्त व्यक्ति ही होता है। इस प्रकारसे यह समस्या हल की जा सकती है कि क्यों किसीके सूजाक और गर्मीकी छूत लग जाती है। ऐसे दो व्यक्तियोंको देखा गया है कि जो एक ही तरहके खतरेमें गये, पर एकको छूत लगी और दूसरा बिल्कुल बच गया। कारण, एक व्यक्ति की जननेन्द्रियोंमें संचित दोष सम्भोग द्वारा दूसरे व्यक्तिमें स्थित दोष-संचयमें इसी

प्रकार काम करता है, जैसे किसी आटेके लोथड़ेमें खमीर असर करे। देखा जाता है कि पति वर्षोंतक अपनी स्त्रीके साथ सुरक्षित रहकर भी दूसरी स्वस्थ मानी गई स्त्रीके साथ संयोगसे सम्भोग करनेपर छूत मोल ले लेता है। विवाहित दम्पतिमें सम्भोगसे वह प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि दोनोंके शरीर परस्पर समता प्राप्त कर लेते हैं। पर नये सम्भोगमें विल्कुल असमता रहती है और वह रोगका कारण बन जाती है।

इन उदाहरणोंमें किसीको किसी प्रकारक व्यभिचारके समर्थनकी गंध नहीं आनी चाहिए। जननेन्द्रिय-सम्बन्धी रोग कैसे पैदा होते हैं ओर एक-दूसरेको छूत कैसे लग जाती है यहां सिर्फ इतना दिखाना ही उद्देश्य है। उसकी प्रकृति, उसका कारण और निवारण आदि समझानेके लिए ये उदाहरण दिये गए हैं, जो दुर्भाग्यवश कम नहीं पाये जाते ।

जननेन्द्रिय रोग शरीरसे केवल विष निकालनेको होते हैं। इन रोगोंको हमें शरीरकी शोधन-प्रक्रिया ही मानना चाहिए। इसके द्वारा शरीर अपने अन्दर संचित दोषको (विप को) निकालनेकी कोशिश करता है। छूटकारा पानेका एकमात्र उपाय शरीरसे दोष दूर कर देना है। फिर तो रोग आप ही चला जायगा। भ्रान्तिवश डाक्टर इंजेक्शनों और तरह-तरहकी भयंकर जहरीली दवाइयों, जैसे भिन्न-भिन्न रूपोंमें पारा, आयोडिन, आयोडाइड ऑफ पोटेशियम, आयडोफार्म इत्यादि द्वारा इन रोगोंको दूर करना चाहते हैं, पर इनसे रोगका दूर होना तो दरकिनार, निकलते हुए विषको, जिससे कि शरीर अपने-आप शुद्ध होता, अंदर ढकेल दिया जाता है। इसका अत्यन्त भयंकर परिणाम होता है, स्वयं रोगसे भी अधिक खतरनाक। रोग

शरीरके भीतर सोया पड़ा रहता है, जिसके परिणामस्वरूप अन्य अनेक प्रकारके रोग होते रहते हैं। इन्हें हम औषधिजन्य रोग (Drug disease) कह सकते हैं। नई चिकित्सा-विधिसे सारे जननेन्द्रिय रोग--अत्यन्त भयंकर माना जानेवाला उपदंश भी--दूसरे अन्य रोगोंकी भांति ही जड़से आराम हो जाता है। उक्त विधिसे अच्छे हुए रोगीकी सन्तानोंमें इस रोगके असर आनेका भय नहीं रहता। लेकिन याद रखें कि उपदंशका वही रोगी अच्छा हो सकेगा, जिसकी पाचन-शक्तिमें सुधार होनेकी गुंजाइश है। जननेन्द्रिय रोग इस बातका निश्चित चिह्न है कि उस व्यक्तिके शरीरमें दोष बड़ी मात्रामें संचित है। अच्छा न होनेपर यह रोग अन्य अनेक जीर्ण रोगोंको जन्म देता है। इससे दमा, टी. बी. (यक्ष्मा), फेफड़ोंके अन्य रोग, हृदय रोग, जलोदर, वात-व्याधि, गठिया आदि अनेक रोग हो जाते हैं। यदि प्रकटमें रोग दबा रहा और उसकी जड़ न गई तो कभी-कभी भविष्यमें होनेवाली सन्तानमें रोग प्रकट होते हैं। बहुतेरी भोली माताएं जब अपने छोटे बच्चोंमें दमा, क्षय, रीकेट (हाथ-पैरोंका टेढ़ापन) देखती हैं तो यह समझ नहीं पातीं कि बच्चेमें यह रोग कहांसे आ गये! वह उसके लिए न अपनेको जिम्मेदार मानती हैं न अपने पतिको। संतानके प्रति माता-पिताका यह बड़ा अपराध है। रोगी तथा कमजोर बच्चा एक दर्पणके समान है, जिसके द्वारा हम माता-पिताके स्वास्थ्यका अन्दाज कर सकते हैं।

जननेन्द्रिय रोगोंमें सबसे ज्यादा फैले हुए प्रदर, प्रमेह, मूत्रकृच्छ्र सूजाक आदि रोगोंमें निकलनेवाले माद्देसे

यह सिद्ध होता है कि शरीर दोषको निकालनेकी कोशिश कर रहा है। इस कार्यमें बाधक न बनकर हमें ऐसा रास्ता अपनाना चाहिए कि शरीर बिना किसी पीड़ाके अपना उद्देश्य पूरा कर सके। शीशा, पारा, जस्ता, आइडोफार्म आदि तेज और जहरीली दवाइयोंकी पिचकारी और इंजेक्शनों द्वारा उस निकलनेवाले माद्देको रोक देना बिल्कुल गलत काम है। वह माद्दा आखिर रुककर जायगा कहां? अंदर रहकर दूसरे भयंकर रोग पैदा करेगा। बहुत अच्छे-अच्छे डाक्टरोंने यह स्वीकार किया है कि जहरीली दवाओं द्वारा इन रोगोंके दबा दिये जानेके परिणाम-स्वरूप ही पागलपन आदि अनेक भयंकर रोग पैदा होते हैं।

नपुंसकता

यह रोग वर्तमान पीढ़ीमें बुरी तरह फैला हुआ है। डाक्टर इस मामलेमें बिल्कुल लाचार हैं, क्योंकि वे इसका कारण ही नहीं जानते। यह रोग भी शरीरमें दोष-संचयके परिणाम-स्वरूप ही होता है, इसका उन्हें पता नहीं। इस नई चिकित्सासे ऐसे अनेक रोगी अच्छे हुए हैं। इन विधियोंसे कामेच्छा स्वाभाविक और सात्त्विक बनाई जा सकती है। जो नवयुवक हस्तमैथुन आदि बुरी आदतोंके कारण वीर्य-नाश करके अत्यन्त कठिन यन्त्रणाएं भोगते हैं और कभी-कभी आत्म-हत्या तकका इरादा कर बैठते हैं, वे भी इस चिकित्सा द्वारा पूर्ण लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

: ४ :

मूत्राशयिक, यकृत, पथरी, पांडु आदि रोग

बिछावनमें पेशाब, यकृत, पथरी, तलवोंका पसीजना, पांडुरोग, छोटी आंतोंकी शिकायतें, त्वचा-सम्बन्धी आदि विभिन्न प्रकारके परस्पर असम्बद्ध प्रतीत होनेवाले रोगोंको एक साथ गिनाना पाठकोंको बिलकुल बेढंगा लग सकता है। औषध-विज्ञानकी दृष्टिसे तो वे सब अलग-अलग रोग माने जाते हैं और उनका इलाज भी भिन्न-भिन्न दवाओं और अलग-अलग तरीकोंसे ही होता है। पर इस नई चिकित्साके सिद्धान्तानुसार तो इन सब रोगोंका कारण एक है और इलाज भी इनका एक ही है।

जिन अंगोंसे सम्बन्ध होनेके कारण, इन रोगोंने अपने नाम धारण किये हैं, उनमें दोष-संचय का होना ही इनकी उत्पत्तिका कारण है। उस संचयके कारण ही उन अंगों द्वारा दोष निकालनेके काममें शिथिलता आ जाती है ओर ये रोग प्रकट होते हैं। इनमें खास अंग गुर्दे और त्वचा है। इनके अपना काम ठीक न कर पाने यानी अंदरूनी गंदगीको निकाल न पानेकी दशामें अनेक रोग पैदा होते हैं।

यहां उन आध्मान-वायुओं (Flatulence) के बारेमें भी समझनेकी आवश्यकता है कि जो पेटमें खुराक पचनेके समय उठती हैं। यह वायु समूची पाचन-प्रणालीमें फैलती हुई आंतोंकी कंचुक गतिके साथ मिलकर खुराकको आगे बढ़ाती है। साथ ही,

उड़नशील होनेके कारण, पाचन-प्रणालीके पर्देमें-से—झिल्लीमें-से गुजरकर सारे शरीरके रक्तमें प्रवेश कर जाती है। जैसे जल हमें समुद्रों, झीलों और नदियोंमें ही सीमित दिखाई देता है, पर वह धरतीके अन्दर भी बहता रहता है और ऊपर उठकर वह सर्वत्र सारी वायुमें भी व्याप्त हो जाता है, वैसे ही, हमारे शरीरमें रक्तवाहिका नाड़ियों द्वारा होनेवाले रक्त-प्रवाहके साथ हमारे खाद्य और पेय पदार्थ भी मुख्य रूपसे तो अपने निश्चित स्थानोंसे होकर चलते हैं, लेकिन उनका अंश वायु रूपमें सारे शरीरमें व्याप्त हो जाता है। इसी कारण शराबका प्रभाव, पीनेके थोड़ी ही देर बाद, सारे शरीरपर प्रकट होता है—विशेषतः मस्तिष्कपर। श्वास और त्वचाके रोमकूप व्यवस्थित रूपसे सक्रिय दशामें होनेपर पसीने द्वारा भी वायुका अंश खारिज होता है। हर आदमीके पसीनेकी गंध प्रायः भिन्न होती है। शरीरमें पुराना दोष सड़नेकी दशामें तो मनुष्यके शरीरमें भयंकर बदबू आती है। ऐसे आदमीके पास ठहरना कठिन होता है। लोग समझते हैं कि कुछ आदमियोंके पसीनेमें बदबू होती ही है, पर वास्तवमें शरीरके भीतर गंदगीके रूप और अनुपातके अनुसार ही बदबू होगी। उसी व्यक्तिका शरीर यदि संशोधन उपचारों द्वारा शुद्ध कर दिया जाय तो बदबू जाती रहेगी। साधारण पसीनेमें कोई दुर्गन्ध नहीं होती। यही वायु मूत्र-स्रोतों द्वारा मूत्राशयमें भी पहुंचती है। इस दृष्टिसे पसीना और मूत्र, दोनों भीतरी मलिनताको खारिज करनेवाले एक ही प्रकारके स्राव हैं। आजके रीति-रिवाज, शर्म, संकोच या लापरवाहीके कारण लोग बहुत देरतक पेशाबको रोके बैठे रहते हैं। इसका स्वास्थ्यपर बहुत बुरा असर

होता है। माता-पिता तथा शिक्षकोंको चाहिए कि बच्चोंको मलमूत्रके वेगको रोकनेकी बुराईसे पूरी तरह परिचित करा दें।

बच्चोंमें जीवनी-शक्तिकी अधिकताके कारण मलमूत्रकी गंदगी शरीरमें बहुत जल्द वापस खिचकर भयंकर परिणाम लाती है। शरीरके अन्दर हमेशा एक तरहका परिवर्तन होता रहता है। यदि मूत्रको शरीरसे समयपर बाहर न निकाला गया तो उसमें खमीर उठेगा और मूत्राशयका ताप बढ़ जानेसे तरल अंश वाष्प बनकर रक्तमें मिल जायगा और लवण वहां रह जायंगे। नतीजा यह होगा कि वृक्कोंसे मूत्राशयमें आनेवाले स्रावोंमें रुकावट होकर वृक्कोंको भी हानि पहुंचेगी। पाखाने-पेशाबकी हाजत रोकनेके परिणामस्वरूप आगे हाजत कम पड़ जाती है और वह हमारी इच्छानुसार नहीं निकल पाता। उस दशामें, रुके हुए मूत्रका होता क्या है? उसका कुछ अंश तो वाष्प—वायु रूप लेकर सारे शरीरमें—रक्तमें प्रवेश कर जाता है। इस वाष्पीकरणके उपरान्त बचे हुए लवण तथा अन्य अघुलनशील पदार्थ मूत्राशय और वृक्कोंमें पीले कणोंके रूपमें रह जाते हैं और बादको निकलते हैं। पर कभी-कभी सब-के-सब नहीं निकल पाते। किसी शीशीमें पेशाब करके खुर्दबीनसे तलछटकी जांच करनेपर अलग-अलग तो छोटे-छोटे पीले कण दिखाई देंगे, लेकिन उन्हें इकट्ठा देखा जाय तो सुर्ख-से दिखाई पड़ेंगे। मूत्राशयमें ऐसे कणोंकी बहुतायत होनेपर ही पथरीकी शक्ल बनती है

पथरी शरीरकी असाधारण दशामें ही अथवा अप्राकृतिक गलत खुराकके कारण बनती है। जैसे बॉयलर (Boiler) में सख्त पानीसे भाप बननेके बाद कड़े कण बच रहते हैं, पर

वर्षाके हल्के पानीमें वे नही बनते। वृक्कोंमें रुके हुए मूत्रका वाष्पीकरण होनेपर जो कण बच रहते हैं उनके मूत्रस्रोतोंमें-से गुजरते समय अंदर रगड़ लगनेसे वृक्क-प्रदाहके रूपमें भयंकर पीड़ा होती है। यही दशा मूत्राशयमें भी होती है। पेड़ूके पास अधिक मात्रामें दोष जमा होने यानी स्थूलताके कारण, मूत्र-स्रोतोंमें संकीर्णता आ जाती है और कण पेशाबसे निकल नहीं पाते। इस प्रकार मूत्राशयमें पथरी बनती है। मूत्राशयमें बराबर उलटते-पलटते रहनेके कारण वह गोल हो जाती है। पर उसमें खुरदरापन कायम रहता है।

मूत्रावरोध सदा पथरीके ही कारण नहीं होता। वह सब-का-सब वाष्परूप होकर शरीरमें दोषके रूपमें जमा हो सकता है और अनेक रोगोंका कारण बन सकता है। उससे शरीरमें गांठें पड़ जा सकती हैं। एक लड़केका शरीर मटर बराबर गांठोंसे छाया हुआ था। गांठें निकलनेके पहले कई दिन तक उसे पेशाब नहीं उतरा था। अनुमान किया गया था कि उसी पेशाबकी ये गांठें हैं और इन्हें पेशाबके रूपमें बाहर निकाला जा सकता है। यही हुआ भी। उपचार आरम्भ करनेके बाद कई दिनोंतक उसे खब पेशाब हुआ ओर सारी गांठें गायब हो गईं।

जैसे देखनेमें दो होनेपर भी अतिसार और कब्ज दोनोंका कारण एक—दोष-संचय—ही है, वही दशा मूत्र-विकारोंमें भी रहती है। एक ही विकारके भिन्न-भिन्न लक्षण होते हैं, जैसे त्वचाका असाधारण वर्ण, असाधारण सुर्खी, खाज, सिर-पीड़ा, गांठें, पथरी इत्यादि। इन्हें अन्य रोगोंकी आरम्भिक अवस्था कह सकते हैं। पर आंवसे मिलता-जुलता रोग बहुमूत्र अथवा मधुमेह तो मूत्रविकारका प्रत्यक्ष परिणाम है। भीतरी

ज्वरके कारण उत्पन्न हुए प्रदाहसे मधुमेहकी दशामें भयंकर प्यास लगती है। मूत्र-विकारके उपर्युक्त अप्रत्यक्ष परिणाम—कब्ज, पथरी, ग्रंथियां आदि उस दशामें प्रकट नहीं होते। शरीरमें-से दोष विघटित रसोंको लिये हुए बहुत शीघ्रतासे खारिज हो जाता है। मधुमेहमें पेशाब गंदला, फेनिल और मिठास लिये होता है। बाहरी शक्लमें अन्तर होते हुए भी पथरी और मधुमेहकी जड़ एक ही है।

कटिस्नानादि भीतरी तापको घटाकर प्यासको दूर करते हैं। पथरी और मधुमेह दोनों एक ही तरहके उपचारसे जाते हैं। पथरी बिखरकर छोटे-छोटे टुकड़ोंके रूपमें पेशाबसे निकल जाती है। पथरीके रोगियोंको उपचार-कालमें इतना पेशाब आता है कि देखकर आश्चर्य होता है। जो पेशाब पहले वाष्प रूपमें होनेके बाद ठोस रूप लेकर पथरीकी शक्लमें जमा हुआ था वह अब अपने असली रास्तेसे वापस लौटता है। ऐसे रोगी पाये गये हैं जो सिर्फ स्नान लेते समय ही ठीक तरहसे पेशाब कर पाते थे। धीरे-धीरे रोगकी जड़ जानेपर उनके मसानेकी हालत पूर्ववत् हो गई—सुधर गई।

यूरमिया रोग, जिसमें कि रोगीके रक्तमें तथा सारे शरीरमें यूरिया पाया जाता है, प्रायः मूत्राशय और पथरीके साथ होता है। मुखाकृति-विज्ञानके अभ्यासी तो स्वयं रोगीके अपनी दशासे परिचित होनेके पहले ही, यानी आरम्भिक दशामें ही, उसका पता लगा सकते हैं।

बिछौनेमें पेशाब

यह घिनौनी आदत भी, जिसमें रोगी पेशाबको रोक

नहीं सकता, अन्य रोगोंकी भांति पेड़में दोष-संचयके परिणाम-स्वरूप ही पैदा होती है। यह दशा दूसरे रोगोंके दवा द्वारा दवाए जानेका परिणाम है।

यकृत (लीवर) रोग, पथरी, पीलिया प्रायः उन्हींको होता है कि जिनमें दोष-संचय शरीरके दाहिने भागमें होता है। यकृतसे झरनेवाला पित्त, जो पित्तकी थैलीसे (गाल ब्लडर), छोटी आंतों (ड्यूडेन) में जाता है, पाचन-क्रियामें उपयोगी होता है, वहां सड़ानको कम करता है। यकृतके दाईं बाजूके दोष-संचयसे पीड़ित होनेकी दशामें उसकी पित्त-निर्झरण क्रियामें बाधा पड़ती है और उस दशामें पसीनेकी मात्रा कम हो जाती है, पसीनेमें बदबू हो जाती है पैरके तलवे पसीजते हैं। पित्तका प्रकुपित होकर बिखरना, उड़ना और त्वचाका रंग धूमिल होना, उसपर धब्बे होना, ये सब लक्षण पांडु रोगके हैं।

तलवोंका पसीजना

इसका भी कारण यकृत-दोष होता है। तलवोंके पसीजनेको देखकर हम वर्षों पहले जान सकते हैं कि दोष अमुक भागमें संचित हो रहा है। ऐसी दशामें रोगीके तलवोंसे निकलनेवाली गंदगी शरीरमें वापस जज्ब हो जाती है और अन्य अधिक भयंकर लक्षण पैदा करती है—जैसा कि कैन्सर, हर्पस वगैरह, जो दुस्साध्य होते हैं।

फोमिक एसिड सरीखी औषधियों द्वारा तलवोंका पसीजना जबरदस्ती दबा देनेसे रोगीके स्वास्थ्यको बड़ा नुकसान पहुंचता है। वर्षों तक, जबतक दूसरा कोई अधिक कष्टकर

लक्षण पैदा नहीं होता, इस नुकसानका पता नहीं चलता। तलवोंके पसीनोंको दबाना तो ऐसा ही है जैसा कि शहरकी किसी ऐसी नालीसे, जिसमें दूसरी नालियां गिरती हों, गंध आनेपर उस नालीको ही बन्द कर देना। नतीजा यह होगा कि नालीके मूल निकासपर सर्वत्र सड़ान फैल जायगी, यानी नीचेकी सड़ान बन्द करनेसे ऊपर सड़ान फैलेगी।

हर्पस, खुजली और चर्म-रोग

आम तौरसे होनेवाले इन रोगोंकी शक्लें चाहे जो हों, कारण सबका एक ही होता है। ये सब त्वचा या तलवेके पसीजनेको रोकनेके फलस्वरूप ही होते हैं। ये सब दूसरे रोगोंके दबानेके परिणाम हैं और जीर्ण दशाके द्योतक हैं। अधिक समय तक धीरज रखकर उपचार करनेसे ये अच्छे होते हैं।

खुजली

यह दो तरह की होती है, खुश्क और बहनेवाली। खुश्क खुजलीके आराम होनेमें कठिनाई होती है और देर भी लगती है। छोटे बच्चोंको प्रायः खुजली होती है, जो पैतृक दोष-संचयके परिणामस्वरूप अथवा बच्चोंके दबाये गये रोगों और टीकेके विषके कारण होती है।

: ५ :

हृदय रोग और जलोदर

मनुष्यको सतानेवाले हृदरोगोंकी सूची बहुत लम्बी है। डाक्टर लोग भिन्न-भिन्न लक्षणोंके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारसे उनका इलाज करते हैं। इन लक्षणोंको कई भागोंमें बांटा जाता है, पर पक्षपात-रहित होकर देखनेपर इसी परिणामपर आना पड़ेगा कि दोष-संचयके कारण ही ये सब फसाद पैदा होते हैं। अतः इनका विभाग करना बेमतलब है। रोगका अधिक या कम कष्टकर होना हृदयकी सहन-शक्तिपर निर्भर करता है। दाहिनी ओर होकर यदि संचय बाईं ओर हुआ तो रोग बढ़ेगा। पैतृक दोषके कारण यदि हृदय कमजोर हो तो वह संचयका प्रतिरोध नहीं कर सकता।

अन्य भागोंके दोष-संचयके परिणामकी भांति ही हृदय अपना कार्य उचित रूपसे नहीं कर पाता। हृदय-पेशियां अधिक सख्त हो जाती हैं, उनकी कार्यकारिणी शक्ति क्षीण हो जाती है। जैसे, शरीरके किसी हिस्सेमें सूजन या तनावसे सारे शरीरमें बेचैनी होती है, वैसे ही हृदयमें भी होती है। जैसे हृदयको कोई विशेष कार्य करना पड़ता है, यानी कोई मानसिक धक्का लगता है, या कोई ऐसी कड़ी मेहनत होती है कि जिस दशामें रक्तकी असाधारण मात्रा हृदयकी ओर जाती है, उस दशामें हमें साफ मालूम होता है कि हृदय पूरा काम नहीं कर पा रहा है। उस दशामें हृत्कंपन हो सकता है, रक्त रुक जा सकता है,

लकवा हो सकता है, सांस लेनेमें कठिनाई हो सकती है। प्रायः इसमें बहुत पीड़ा नहीं होती, लेकिन लगातार या क्षणिक अवसाद आता है, मानों हृदयको कोई बाहरी वस्तु ढकेल रही हो।

लेकिन हृदयके रोगका मूल कारण न दूर करके शरीरको दवाके नामपर अतिरिक्त विष पिलानेसे हालत और बिगड़ जाती है, जलोदर जैसे रोग प्रकट होते हैं। जलोदरमें जो पानी होता है वह सब दोष ही है। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि शरीर शुद्ध रक्त बनानेकी दशामें नहीं रह गया है या जो रक्त है शरीर उसे शुद्ध नहीं कर पा रहा है। परिणाम-स्वरूप रक्त बननेवाले कण इस दोष-संचयके प्रकोपके कारण दूसरी शक्लमें बदलते हैं।

जलोदर वास्तवमें उसी हालतमें दूर हो सकता है जबकि उन स्थानोंसे, जिनमें शोथ है, अपने-आप खूब पसीना आने लगे। उसी दशामें जल और अन्य दोष शरीरसे निकाले जा सकते हैं और बिना किसी बाहरी सहायताके ठीक पाचन लौट सकता है। जीवनी-शक्तिके कमजोर हो जाने—दोष निकाल न पानेकी दशामें जलोदर अच्छा नहीं हो सकता। उस दशामें पाचनको स्थायी रूपसे सुधारना असम्भव होता है।

मुखाकृति-विज्ञान द्वारा जलोदरकी इस अवस्थामें आनेके बहुत पहले रोगीकी भीतरी खराबीको जाना जा सकता है और उसे आसानीसे अच्छा किया जा सकता है। बीमारीके उस दशामें पहुंचनेतक, जबकि वह अच्छी होनेकी दशामें नहीं रहती, ठहरने की जरूरत नहीं रह जाती।

नीचे दिये गये एक हृद्-रोगीके वर्णनसे पाठक उपर्युक्त

कथनकी सत्यता का अनुमान कर सकेंगे ।

यह व्यक्ति बटाविया, (जावा) का रहनेवाला था। वहां वह २४ सालसे निर्यात व्यापारमें लगा था। उसके अपने कथनानुसार इस बीच कभी-कभी ज्वर, आंखोंके शोथ, पैरोंमें घावके सिवा और प्रायः वह स्वस्थ ही रहा। उपर्युक्त लक्षण इस बातके प्रमाण हैं कि अंदरसे वह स्वस्थ नहीं था, शरीरमें विकार भरा था। यह विकार शरीरके विभिन्न भागोंमें बदलता रहा। नवंबर १८७९ में बायें कानके पास गर्दनके पिछले हिस्सेमें उसके एक बड़ी गिल्टी निकली। यह दवासे दबा दी गई। परिणाम-स्वरूप कुछ दिनों बाद उसकी एक अंगुली सूजी और पककर बहने लगी। अंगुलीकी एक हड्डी भी गल गई।

अंगुलीके आराम होते-न-होते बवासीर से खून जारी हो गया। इसके कुछ ही समय बाद बायें पैरमें एक घाव हो गया, जो बहुत दिनों तक रसता रहा।

रोगीको हाथ-पांवमें बराबर ठंडक लगती रहती। ठंडे पसीने आते रहते और जब-तब ज्वरका आक्रमण होता। फरवरी १८८२ में तेज ज्वर आया और कई दिन रह गया। रोगी घबरा गया तो चिकित्सकने, जो उसके रोगको कुष्ठ मानकर उपचार कर रहा था, उसे यूरोप जानेकी सलाह दी। इसपर १३ अप्रेल १८८२ में वह यूरोप पहुंचा और वहां की चिकित्सासे कुछ अच्छा रहा। लेकिन गरमी आते ही उसके शरीरमें काफी लाल चकत्ते निकल आये। जीर्ण ज्वर रहने लगा। अप्रेल १८८३ में वह जावा लौट आया। वहांकी गरमीमें उसे खूब पसीने निकलने शुरू हुए और लाल चकत्ते गायब हो गये। पर मईमें उसे कुछ हृदयकी गड़बड़ी शुरू हुई और इतना तेज ज्वर हुआ कि उसे विवश होकर मई

१८८५में उसे फिर यूरोप जाना पड़ता। वहां उसे कोई खास राहत नहीं मिली।

जनवरी १८८९में व्यापारके कारण उसे फिर जावा लौटना पड़ा। अब उसकी त्वचाकी ऐसी दशा हो गई थी कि पसीना बहुत-ही कम आता था। उसे ज्वर फिर लौट आया। रोगके अन्य लक्षण भी जाहिर होने लगे। डाक्टरोंने देख-दिखाकर कुष्ठ कायम किया और जांचमें कुष्ठके कीड़े भी निकल आये। फिर क्या था, डाक्टरोंने रोगीसे कहा कि वह दूसरी जगह चला जाय अथवा तो उसे कहीं अलग, जहां दूसरोंको उसकी छूतका डर न हो, रखना होगा। रोगी १९ दिसंबर १८८९ को फिर यूरोप रवाना हुआ। उसके साथ जानेवाले आदमीको तो शक ही था कि वह जीता-जागता जेनोआ पहुंच सकेगा। पर समुद्री हवाने उसकी जीवनी-शक्तिको बल दिया और वह यूरोप पहुंच गया। यहां फिर उसका रोग दब गया। पर वहांके चिकित्सकोंने उसकी बीमारीको असाध्य बताकर छोड़ दिया।

अंतमें एक मित्रकी सलाहसे २० मार्च १८९० को रवाना होकर चार दिन बाद वह मेरे पास लिपज़िकमें पहुंचा।

संयोगवश मैंने आते ही इसका एक फोटो लिवाया और जब अच्छा हो गया तो दूसरा फोटो लिया गया। दोनों फोटो नीचे दिये जा रहे हैं।

उसका सारा शरीर विकारसे भरा हुआ था। गर्दन अलग नहीं रह गई थी। धड़ गर्दनके साथ मिल गया था और सिर और गर्दनको अलग करनेवाली रेखा लुप्त हो गई थी। माथे पर एक इंच जितनी बड़ी गिल्टी-सी निकली हुई थी। आंखोंके चारों ओरका हिस्सा और इसी प्रकार सारा सिर भी सजा हुआ था, जो

असाधारण दोष-संचय का प्रमाण था। दाहिने पैरकी पिंडलीसे मवाद बह रहा था। दोनों पैरों और टखनोंमें तथा मवादवाले

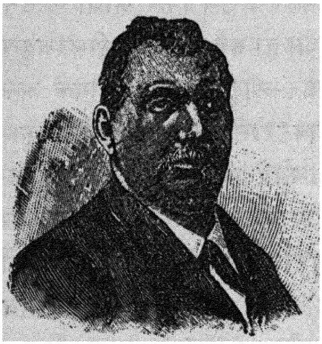

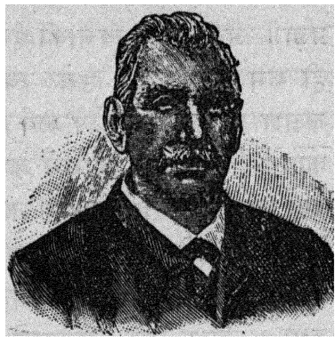

ऊपरी हिस्सेमें पानी भरा हुआ था। इसकी वजहसे रोगीका चलना-फिरना मुश्किल था। धड़में भी उसी तरह विकार भरा था। पाचन बिल्कुल बिगड़ा हुआ था। न आंतें ठीक काम करती थी, न मसाना। हृदय उसको दिन-रात कभी चैन न लेने देता, हमेशा भारीपन बना रहता। उसके हाथ-पैर बरफकी तरह ठंडे थे और एकदम नीले पड़ रहे थे।

यह इलाज शुरू करते ही उसे फायदा मालूम होने लगा। शीघ्र ही पाचन सुधर गया। दस्त, जो एनिमासे आता था, अपने-आप आने लगा, पेशाब भी ठीक होने लगा। पेशाब पहले हल्का और साफ आता था, लेकिन अब गंदा और गाढ़ा आने लगा, जो इस बातका परिचायक था कि उसके द्वारा शरीरका दोष निकल रहा है। दूसरे दिन भी उसे ताजगी लगी, साथ ही कुछ कमजोरी जो दोषको निकालनेमें खर्च हुई शक्तिके कारण आई थी। खूब पसीना भी आया। उसका दोष बहुत तेजीसे निकलने लगा, जिसकी

वजहसे कुछ ही दिनोंमें बाहरी ढांचेमें विशेष परिवर्तन आ गया।

आश्चर्यकी बात थी, पिंडलीसे मवाद आना बंद हो गया। पहले वह भाग गहरा भूरा हुआ, फिर नीला सुर्ख और पूरे चार इंच-की चौड़ाईमें था। पैरमें खूब सूजन आ गई थी, दोषके प्रकुपित होनेके कारण।

मरीजके लिए यह कठिन परीक्षाका समय था, लेकिन उसकी जीवनी-शक्तिने उसका साथ दिया। वह चल-फिर तो नहीं पाता था, लेकिन उसके उन भागोंमें पसीने खूब आते थे, जिनमें पानी भरा था। चार सप्ताहमें उसका सारा पानी निकल गया। रोज-रोज उसकी ताकत बढ़ रही थी। चार महीनेके उपचारमें उसकी शक्ल इतनी बदल गई कि पहचानना कठिन था, उसका। रोगके सब लक्षण जाते रहे थे।

बटावियाके उस डाक्टरने, जिसने उसे कुष्ठ साबित किया था, फिर उसे चार हफ्ते अपनी जांचमें रखनेके बाद सर्टिफिकेट दिया कि अब उसके शरीरमें कुष्ठके कृमि नहीं हैं। तब उसे जावामें रहनेकी इजाजत मिली।

पाठकोंके सामने यह केस इस चिकित्साकी सच्चाई और श्रेष्ठताका बहुत अच्छा सबूत पेश करता है।

: ६ :

मेरुदंड-संबंधी रोग

मेरुदंड-सम्बन्धी कोई भयंकर रोग प्रकट होनेके पहले बहुत दिनों तक किसी जीर्ण रोगकी दशा होती है। दोष-संचयके फलस्वरूप स्वप्न-दोष—स्वप्नमें वीर्यपात—होता है, रोगी विवाहित हो या अविवाहित। इसीके साथ दूसरे दूषित रोगोंके लक्षण भी प्रकट होते हैं। बहुतोंको कमरके आसपास जकड़न-सी लगती है। दोष-संचयके अल्पाधिक्य और स्थानके अनुसार वह जकड़न कम-ज्यादा होती है।

रीढ़की रुग्ण दशाका कारण पृष्ठ दोष-संचय होता है। यह रोग भी भयंकर जीर्णदशाका परिचायक है। मेदेका असाधारण ताप इसका कारण होता है। ऐसे सब मरीजोंका पाचन खराब होता है।

: ७ :

रक्तहीनता, हरित, पांडुरोग

जिधर देखिए रक्तहीनता, हरित और पीलिएके रोगियोंकी भरमार है। इनसे न गरीब बचता न अमीर, न बूढ़ा न जवान। दवाइयां भी इन रोगोंकी कम नहीं निकली हैं। इन औषधियोंके साथ रोगीको गरिष्ठ भोजन भी दिया जाता है, जैसे अंडे, गोश्त, शोरवा, शराब, आसव वगैरह।[1]

नये औषधविज्ञानका दावा है कि उसने भोजन-विज्ञानकी बारीकियोंको और शरीरपर पड़नेवाले उनके प्रभावको खूब समझ लिया है, लेकिन देखनेमें तो लोगोंको उससे लाभ कुछ नहीं मिल रहा है। उपर्युक्त भोजन शरीरमें पहुंचकर उसकी शक्ति नहीं बढ़ाते, उत्तेजना अवश्य बढ़ाते हैं, जिससे मानसिक परेशानी और कामुकताकी वृद्धि होती है।

इन रोगोंके कारण माताओंका दूध सूख जाता है। बीमार सोचने और काम करनेकी शक्ति खो देते हैं। पावोंमें जड़ता और पुट्ठोंमें दर्द हो जाता है। भूख बंद हो जाती है। समय पर शौच नहीं आता। इन सबके लिए डाक्टर पुष्टिकर भोजन, मांस, छेना, रसगुल्ला, घी, दूध, मलाई, लीवर एक्सट्रैक्ट, काडलीवर आयल, विटैमिन की गोलियां और भांति-भांतिके टानिक आदि लेनेकी सिफारिश करते हैं। चूर्ण, चटनी, कुनैन, लोहा देते हैं,

---

[1] भारतमें, निरामिष भोजियोंको छेना, दूध, घी, रबड़ी, मलाई रसगुल्ला आदि।

तरह-तरहकी शक्लोंमें। परिणाम-स्वरूप रक्तमें अधिक क्षीणता आती है। रोगी पीला पड़ जाता है। साथ ही, अन्य अनेक उपद्रव खड़े हो जाते हैं, जिनका वास्तविक कारण अप्राकृतिक उपचार—दवाका इस्तेमाल होता है। बात आश्चर्यकी है, पर है सत्य कि आज अनेक नवजात शिशु भी इन रोगोंसे पीड़ित पाये जाते हैं।

आजका औषधोपचार और खुराक इन रोगोंके लिए बिलकुल ही अनुपयुक्त हैं। यह भी मानना पड़ेगा कि रसायन-शास्त्र सजीव शरीरकी क्रियाओंके संबंधमें बहुत दूर तक मदद नहीं कर सकता। अनुभव तो बतलाता है कि ये सारे नकली चूरन, चटनी, शोरवे, टानिक, आसव और भारी भोजन, जो पुष्टिके खयालसे रोगीके शरीरमें ठूंसे जाते हैं, बड़ी कठिनाईसे पचते हैं। प्रायः तो बिलकुल ही नहीं पचते। खुराक अपने मौलिक रूपमें, पकाये, छौंके और विशेष परिवर्तन किये बिना, अधिक-से-अधिक सुपाच्य होती है।

रक्तहीनता और पांडु रोगके बाहरी चिह्नोंसे शरीरकी भीतरी दशाका सही अंदाज नहीं हो पाता। साधारणतः स्वस्थ व्यक्तिकी त्वचा कभी फीकी या अधिक लाल, पीली या भूरी नहीं होती। वह देखने में सदा गुलाबी, सरस और स्पर्शमें उष्ण लगती है। स्वस्थ रक्त चमकीला लाल और पतला होता है। इसके विपरीत, दोषपूर्ण रक्त लगभग काले गहरे रंगका, गाढ़ा और जमा हुआ-सा होता है। अत्यधिक दोषसंचयके स्थान पर रक्त वाहिनियां फैलकर थैली-सी (पाकेट) हो जाती हैं और अधिक रक्त रोके रखती हैं। यह दशा यकायक नहीं आ जाती। पांडु और रक्त-हीनताके रोगियोंकी त्वचाका रंग म्लान होनेके साथ-साथ रक्तशिराएं भी कृष्ण-वर्ण हो जाती हैं। साधारण दशामें तो

शिराओंमें स्वस्थ रक्त सहज भावसे बहता रहता है। वे शिराएं त्वचाके नीचे झलकती तो हैं, पर उनमें रक्ताल्पताके रोगीकी भांति न नीलापन दीख पड़ता है, न फैलाव ही। रक्ताल्पताके रोगियोंमें तो पीली, निष्क्रिय, मुरझाई हुई त्वचा मोमकी तरह हरी-पीली-सी लगती है। कुछ रक्ताल्पताके रोगियोंका चेहरा लाल और त्वचाका रंग गुलाबी देख पड़नेपर भी शरीरमें अशक्तता और क्षीणता प्रतीत होती है। खाई गई खुराकका रस नहीं बनता। इस दशाको डाक्टर लोग 'खयाली बीमारी' कहकर टाल देते हैं।

रक्ताल्पता और हरित रोगमें अंदर सदा ताप रहता है और बाहरसे ठंड-सी लगती रहती है। इससे स्पष्ट है कि अन्य रोगोंकी भांति इसमें अंदरूनी बुखार होता है।

इन रोगोंका मुख्य कारण है सही खुराक और शुद्ध हवाकी कमी, अधूरा पाचन और उसीके साथ फेफड़े और त्वचा की अधूरी क्रिया। अधूरा पाचन दोष-संचयका कारण होता है, शरीरमें तनाव पैदा करता है और भीतरी गरमीको बढ़ाता है। उस गरमीके कारण दोष गैसकी शक्लमें सारे शरीरमें फैलता है और शरीरके अग्र भागोंमें, त्वचाके नीचे जमा हो जाता है। इस प्रकार त्वचामें स्थित सूक्ष्म रक्त-वाहिनियां शनैः-शनैः रुद्ध हो जाती हैं और उनमें रक्त पहुंचनेमें बाधा पड़ने लगती है। यही कारण है कि स्वस्थ त्वचावाले मनुष्यको मिलनेवाली गरमी, ऐसे रोगियोंको नहीं मिलती। इससे त्वचा म्लान और मुरझाई तो रहती ही है।

रक्ताल्पता और हरित रोगका मुख्य कारण असम्यक् पाचन होने पर भी फेफड़ोंकी निष्क्रियता भी इसका कारण होता है, जो ताजी और स्वच्छ हवाके अभावसे होती है। दुर्भाग्यवश डाक्टरों-

द्वारा डराये गये लोग सर्दी लग जानेके भयसे कमरेके दरवाजे, खिड़कियां बंद करके सोते हैं, जिसके कारण उनके स्वास्थ्य पर बहुत बुरा असर होता है। ये डिग्री के बोझसे दबे हुए डाक्टर जानते बूझते हुए भी कि फेफड़ोंमें ताजी हवाके आवागमनसे ही रक्त नया होता है, बीमारोंको कमरेमें ताजी हवासे बचकर बंद रहनेकी हिदायत करते हैं। यह इन लकीरके फकीर डाक्टरोंके निकम्मे-पनका एक बड़ा सबूत है।

डाक्टरी (एलोपैथी) रोगके मूल कारणकी ओर ध्यान नहीं देती, शरीरसे दोषको दूर करनेकी चेष्टा न करके रोगके लक्षणोंको दबाती और हर रोगको जीर्ण दशामें बदल देती है। इन अनाड़ियों-को इसकी हानिका पता नहीं होता और इसे वे रोगीका आराम होना कहते हैं। यह आराम क्या हुआ ?

ये रोग शरीरसे दोषोंको निकालकर ही दूर किये जा सकते हैं, दवाएं ठूंसकर नहीं। दवाओंसे, जिनमें रक्ताल्पताके लिए लोहा बहुत ही प्रशंसित औषधि मानी गई है, मेदा शीघ्र ही इतना कमजोर हो जाता है कि रोगी सादा भोजन खा ही नहीं पाता, सिर्फ चटपटी, मसालेदार चीजें ही पेटमें डाल सकता है, सो भी स्वादके वश, भूखके वश नहीं। इन चीजोंसे हाजमा बिगड़ जाता है, पाचन-संस्थान इतना उत्तेजित हो जाता है कि भूख मर ही जाती है। उस दशामें डाक्टर और अधिक पोषक भोजनकी सिफारिश करता है, अधिक तेज दवाएं देता है, पर इससे दशा सुधरनेके बजाय बिगड़ती ही है।

इस नई चिकित्सा-विधिसे ज्यों-ज्यों रोम-कूपोंका अवरोधक दोष, जिसके कारण रक्त-संचालनमें बाधा पड़ती थी, दूर होता है, शरीरके ऊपरी हिस्से तक रक्त पुनः पहुंचने लगता

है, शरीरमें गरमी आने लगती है, त्वचामें आर्द्रता और उसका स्वाभाविक रंग लौट आता है। इस विधिमें बतलाया गया सुपाच्य अनुत्तेजक भोजन रक्ताल्पता और हरितके रोगियोंके लिए विशेष अनुकूल होता है।

मैदानकी अथवा कमरेकी खिड़कियोंको खोलकर पाई जाने-वाली ताजी, स्वच्छ हवा, जलकी भांति ही, स्वाभाविक रूपमें हमारे शरीरको नीरोग करने, उभार लानेमें सहायक होती है। ये उभार हमारे शरीरमें प्रकृतिकी कृपासे आते हैं। औषधोपचा-रक, सर्दीसे बचानेकी दलील देकर रोगीको ताजी हवा और ठंडे पानीसे बचनेकी सलाह देते हैं। वे ठंडकके लाभको नहीं जानते, शरीरकी कोई क्षति किये बिना, सर्दीका मुकाबला करनेकी अपनी असमर्थताके कारण, वे शरीरके लिए अत्यंत उपयोगी प्रतिक्रियात्मक साधनको दबानेका प्रयत्न करते हैं।

सर्दी (जुकाम) बिलकुल निर्दोष लक्षण है, इसका तो स्वागत होना चाहिए। सच्चे अर्थमें स्वस्थ व्यक्तिको शरीर निर्दोष होने-के कारण जुकाम नहीं होना चाहिए। किन्तु संचित दोषवाला भी यदि प्राकृतिक जीवन अपनाकर उचित रूपमें ठंडे पानीके प्रयोग, स्वच्छ ताजी हवा और अनुत्तेजक भोजनका सहारा ले तो अपना स्वास्थ्य पुनः सुधार लेगा। इससे उसमें अभूतपूर्व सहनशक्ति आ जायगी, शरीर भीतरसे स्वच्छ हो जायगा। तापमानमें आकस्मिक परिवर्तनके कारण होनेवाला जुकाम केवल ताजी हवासे शरीरकी जीवनी-शक्तिको—उसमें आरोग्यतात्मक उभार लानेकी नीयत-से—जागृत करके लाया जा सकता है। इस उभारसे शरीरसे संचित दोष बिना किसी हानिके निकल जाकर उसे स्वस्थ करनेमें सहायक होता है।

: ८ :

मिरगी

मिरगीमें मनुष्य अकस्मात् बेसुध हो जाता है। अन्य रोगोंके, दवाओं द्वारा दबाए जाने, अथवा पिताकी युवावस्थाकी भूलोंके परिणाम-स्वरूप, यह संतानमें आता है। दवाओंके द्वारा गर्मी, सूजाक वगैरहका शरीरमें दबाया हुआ विष माता-पिता द्वारा संतानके शरीरमें आता है और आगे चलकर वह मिरगीके दौरे-का कारण होता है।

इस नई विधिसे मिरगीके बहुतेरे मरीज अद्भुत सफलताके साथ अच्छे हुए हैं। मिरगीके दौरेका कारण भी शरीरमें एकत्र दोषका अकस्मात् प्रकुपित होना ही है। यह प्रकोप कभी पहले पांवोंकी ओर होता है, कभी सिरकी ओर।

मिरगीका उपचार आरंभ करते ही कभी-कभी दौरे बढ़ जाते हैं और फिर धीरे-धीरे कम होते हुए खत्म होते हैं। कभी बीचमें बढ़कर फिर खत्म होते हैं। कुल रोगियोंमें सदा एक ही प्रकारकी क्रिया नहीं होती है। दोषसंचयकी मात्रा और स्थानकी स्थितिके अनुसार उपचार-कालमें भिन्न-भिन्न प्रकार सामने आते हैं।

: ९ :

कान और आंखके रोग

कान और आंखकी पीड़ा मनुष्यके लिए बड़ी दुखदायी होती है। डाक्टर यह न समझकर कि इन पीड़ाओंका कारण भी शरीरमें विद्यमान दोष-संचय ही है इनकी स्थानीय चिकित्सा करते हैं। यह असंभव है कि किसीकी आंख और कानमें तो तकलीफ हो, पर और तरहसे वह नीरोग हो।

जब दोष गर्दनके ऊपर बढ़कर कानोंके सूक्ष्म तंतुओंमें भरता है तो वहां एक तरहकी रुकावट पैदा हो जाती है। कभी-कभी, कान-का पर्दा खराब हो जाता है, कानमें जलन होने लगती है, मवाद आने लगती है। यदि इसकी समयानुसार उचित चिकित्सा—संशोधन-चिकित्सा—न होकर उस संचित दोषको वहीं सुखानेकी कोशिश हुई तो बहरापन आ जाता है।

हमारे सिद्धांतानुसार तो कान बहने और नाक बहनेमें (जुकाममें) कोई फर्क नहीं है। लेकिन लोग नाक बहनेको बहुत मामूली बात मानते हैं और कान बहनेको बहुत गंभीर, क्योंकि नाक तो प्रायः बहती है, कान कभी-कभी। किसी अंगमें रोग कम होनेपर यह तो नहीं कहा जा सकता कि उसका कारण कुछ दूसरा है। और जब उसी उपचारसे कानका बहना, नाकका बहना और आंखों का बहना (पानी आना, सुर्ख हो जाना आदि) दूर किया जा सकता है, तब तो यह सिद्ध ही है कि कारण सबका एक ही है।

आंखोंकी विभिन्न बीमारियां या कहें आंखोंको पीड़ित करने-

वाले विभिन्न लक्षण—फिर उनके नाम चाहे जो रखे जायं—उसी दोष-संचयके परिणाम-स्वरूप होते हैं।

डाक्टरों द्वारा आंख, कान, नाक वगैरह पर की जानेवाली काट-छांट बिलकुल गलत काम है। इससे कोई स्थायी लाभ नहीं होता। काट-छांटके बाद तो प्राकृतिक उपचारसे लाभ प्राप्तिकी आशा भी जाती रहती है।

जिन्हें आंख, कान, नाक, वगैरहमें किसी प्रकारका कष्ट हो, उन्हें चाहिए कि डाक्टरोंसे काट-छांट करानेके पहले किसी अच्छे प्राकृतिक चिकित्सककी सलाहसे अपना उपचार करके देखें।

: १० :

दंतरोग, जुकाम, इन्फ्लुएंजा

दांतोंके गड्ढे (Carries) तथा दांतोंकी अन्य सब प्रकारकी पीड़ाएं शरीरमें दोषसंचयका ही परिणाम हैं। सिरकी ओर बढ़नेवाला दोष-संचय दांतोंको भी प्रभावित करता है, उन्हें सड़ा देता है। उसी सड़नके कारण दर्द होता है। जिनके दांतोंमें तकलीफ नहीं रहती है वे भी कभी-कभी जल-चिकित्साकालमें दांतोंके दर्दसे पीड़ित हो जाते हैं। अक्सर मसूढ़े सूजते हैं, उनमें-खून आने लगता है। मुंहमें छाले भी पड़ जाते हैं। दोष ऊपरसे नीचेकी ओर लौटते समय दांतोंपर भी अपना असर डालता है।

दांतोंके दर्दके लिए दांत उखड़वाना तो भारी मूर्खता है। नाकमें तकलीफ होनेपर नाक नहीं काटी जाती, न गलेकी तकलीफमें गला काटा जाता, फिर दांतोंको ही क्यों निकाला जाता है ? वे ही बेचारे ऐसा क्या कसूर करते हैं ?

इस चिकित्सासे अनगिनत लोगोंकी दांतोंकी तकलीफ दूर होनेके उदाहरण हैं। इसमें घर्षण कटिस्नान और सिरके स्थानीय भाप-नहान—बादको कटिस्नान—विशेष उपयोगी पाये गये हैं। कटिस्नानके बाद, संभव हो तो, रोगीको धूपमें टहलना चाहिए। दांतोंकी पीड़ाके लिए प्रायः एक स्थानीय भाप-नहान और बादको कटिस्नान काफी होता है। पर यदि तकलीफ कम न हो तो दूसरा भी लेना चाहिए।

मनुष्यके दांतोंपर पीले रंगका चिपचिपा मैल-सा जमता है,

जो साफ न करनेसे सख्त भी हो जाता है—अंग्रेजीमें उसे (टार-टार) कहते हैं। हमें दांत रोज साफ करने चाहिए। वैसे तो पूर्ण नीरोग मनुष्यके दांतोंमें पीला मैल जमना ही नहीं चाहिए और उस दशामें उसे दांतोंके साफ करनेकी जरूरत भी नहीं होनी चाहिए। कहां कोई पशु दांत साफ करता है? उनके दांत हमेशा उजले, चमकदार रहते हैं। यह मैल तो पेटकी खराबीका सबूत है—विकृत पाचनका परिणाम है यह, जो आंतोंसे उठकर ऊपर दांतोंपर जमा होता है।

दांतोंके सब रोग तभी जा सकते हैं कि जब शरीरसे दोष निकल जाय। खोखले दांतोंको तो फिरसे नया नहीं किया जा सकता, लेकिन उन्हें उखड़वाना गलत है। पड़े रहने देना चाहिए। जो दांत गिरनेसे बचाये जा सकते हों, उन्हें बचाना चाहिए। अगर कोई दांत हिलता हो और उसके जमनेकी संभावना न हो, तब तो उसे उखड़वाना ही उचित है, पर आम तोरसे थोड़ी-सी तकलीफमें दांत उखड़वा डालनेका रिवाज तो बहुत ही भयानक है। दांतोंमें पीड़ा इस बातका प्रमाण है कि दोष कुपित दशामें सिरोंकी ओर जा रहा है। हमारे दांत भी शरीरके अन्य सिरों-की भांति ही सिरे हैं।

जुकाम—प्रतिश्याय

इसमें वात-नाड़ियोंमें जलन होती हैं। कहते हैं, ठंड लगनेसे जुकाम हो जाता है। पर किन्हें? जिनके शरीरमें दोष-संचय है, निर्दोष शरीरको नहीं। नाक, गले आदि हिस्सोंमें दोष-संचयके परिणाम-स्वरूप जुकाम होता है, और वह दोष फेफड़ोंसे इन हिस्सोंमें आता है। जुकाम एक प्रकारसे प्रकृतिकी ओरसे फेफड़ोंकी शुद्धिका प्रयत्न है।

इस चिकित्साके प्रयोगोंसे तथा दिनका अधिक भाग स्वच्छ हवामें बिताने और खिड़कियां खोलकर सोनेसे जुकाम शीघ्र चला जाता है और उसकी तकलीफ बहुत घट जाती है, वह शीघ्र बहने लगता है।

इन्फ्लुएंजा की भी यही बात है। मेरे कटिस्नान, मेहनस्नान और भाप-नहानोंने सन् १८९० के इन्फ्लुएंजाके दौरेके समय अद्भुत काम किया था। सब प्रकारके रोगियोंकी भांति ही इस रोगके रोगियोंकी भी पाचन-शक्ति तो खराब ही थी। वास्तविक कारण इसका भी संचित दोषका प्रकुपित होना ही है।

कंठ रोग

कंठ रोगोंकी प्रायः स्थानीय चिकित्सा की जाती है। गरारा कराया जाता है, या पीड़ाके स्थानपर लेप लगाया जाता है अथवा इन्जेक्शन वगैरहसे पीड़ा-निवारणका प्रयत्न किया जाता है। पर यह सब गलत है। कंठकी पीड़ा भी आंतरिक दोष-संचयके फलस्वरूप ही होती है, विशेषकर फेफड़ोंके दोषसे। प्रायः कंठरोग पैतृक दोषके कारण हुआ करते हैं।

इन रोगोंमें संचित दोष प्रकुपित होकर ऊपर चलता है और गर्दनमें फैलनेकी जगह न पाकर वहां तकलीफ देता है। सिरके रोगोंमें पहले गर्दनपर ही आक्रमण होता है।

घेघा

यह रोग कुछ खास-खास जगहोंमें भी होता है और इसका कारण जलकी खराबी मानी गई है। उस जलका दोष शरीरमें संचित होकर घेघेके रूपमें प्रकट होता है। अन्य रोगोंकी भांति ही यह भी इस चिकित्सासे जाता है।

: ११ :

अधकपाली, मस्तिष्कका क्षय, सिरदर्द आदि

लोग किसी दर्दका कारण स्थान विशेषपर ढूंढ़ते हैं और उसी हिस्सेका उपचार किया जाता है। पर सिरदर्दमें तो यह बिल्कुल ही गलत है। सिरके दर्दकी जड़ तो हमें पेड़ूमें ढूंढनी चाहिए। पहले आंतोंमें एकत्र होनेके बहुत सालों बाद विकार सिरमें पहुंचता है। जब दोष आंतोंसे चलकर नियमानुसार ऊपरकी ओर बढ़ता है तो अधकपाली होती है। जिस ओर दोष होता है, सिरके उसी अर्धभागमें दर्द होगा। होशियार आंखें रोगीसे पूछे बिना बता सकती हैं कि अधकपालीका दर्द उसकी बाईं दिशामें है या दाहिनी दिशामें। सिरके बड़े-बड़े रोग, जैसे मस्तिष्कका प्रदाह या उसका क्षय, दोषके पीठकी ओर संचय होनेके कारण होते हैं। प्रायः सिरदर्दवालोंकी पाचनशक्ति खराब होती है और उन्हें भयंकर कब्ज होता है। कब्जके बाद बवासीर अथवा अन्य प्रकारकी सूजन बड़ी आंतमें पैदा होती है। आजकल बच्चोंकी आंतोंमें भी इसी तरहकी खराबी पाई जाती है। कभी-कभी आंतोंमें पड़ी हुई गांठें—सूजन अकस्मात् गायब हो जाती है और फिर सिरमें दर्द होने लगता है। वही गांठ—दोष-संचय—जो आंतोंमें थी, सिरकी ओर चली आती है। वहां वह बहुत छोटी अतएव सख्त होती है। ये गांठें सिरके पिछले हिस्सेमें हो सकती हैं या बाएं अथवा दाहिने। ये टटोलकर देखी जा सकती हैं।

पर शरीरमें हमेशा दोष-संचयक स्थानपर गांठें नहीं बनतीं।

दोष शरीरमें गैसकी शक्लमें उड़नशील दशामें भी रहता है और एक भागसे दूसरे भागमें सिरोंकी ओर जाता रहता है। वहां पहुंचकर जबतब गांठकी शक्ल भी ले लेता है। सिरमें ऐसी गांठें पड़ जानेपर डाक्टर इसे मस्तिष्कका क्षय कहते हैं। वे यह नहीं समझते कि पहले बड़ी आंतोंमें हुई गांठें ही सिरमें पहुंची हैं। आंतोंकी गांठे क्यों गईं और सिरमें क्यों हुई, इसका कारण उनकी समझमें नहीं आता। वे कहेंगे कि आंतोंकी बीमारी गई, यह नई हुई है। पर वास्तवमें तो बीमारीने—दोषने—स्थान बदला है। इस नई चिकित्सा द्वारा सिरकी गांठें जाने लगती हैं, तब कभी-कभी फिर आंतोंमें दिखाई देती हैं और अंतमें बिल्कुल खत्म हो जाती हैं। तब सिरका दर्द भी खत्म हो जाता है।

दोषके सामनेके भागमें अथवा दाहिने, बाएं हिस्सेमें होनेपर सिरमें गांठें शीघ्र नहीं पड़तीं। अगर पड़ीं तो ग्रीवा और फेफड़ोंमें पड़ती हैं। पीठके हिस्सेमें दोष होनेपर नीरोग होनेमें देर लगती है, पर सामने या दाएं-बाएं होनेपर शीघ्रता होती है। मुखाकृति-विज्ञान द्वारा बहुत पहलेसे सिरकी ओर बढ़नेवाले दोषका अंदाज किया जा सकता है।

कितनोंको सिरका दर्द और अधकपाली एक ही कटिस्नान, देर तक लेनेसे जाते देखा गया है। बहुत पुराना सिरदर्द अवश्य कुछ अधिक समय लेता है, क्योंकि शिरोभागके दोष-संचयको निकलनेके लिए आंतोंकी ओर लौटना पड़ता है। इस दशामें किसी-किसीका पुराना सिरदर्द उभर भी आता है। कटिस्नान और मेहन-स्नान लेते समय जो कभी-कभी सिरदर्द मालूम होता है वह दोषका लौटते समय सिरकी नाड़ियों—रक्त-धमनियों—पर दबाव डालना है।

: १२ :

टाइफस, पेचिश, हैजा, अतिसार

टाइफस या स्नायु-ज्वर प्रायः जवानोंको होता है और सो भी प्रायः पुष्ट, मोटे-ताजे दिखाई देनेवालोंको। यह ज्वर बहुत तीव्र होता है। एलोपैथीमें यह बहुत भयंकर समझा जाता है और उनके यहां टाइफसके काफी मरीज़ मर जाते हैं। पर जल-चिकित्सामें ठंडे स्नान लेनेके बाद यदि पसीना लानेमें सफलता प्राप्त हो सके तो रोगी बहुत शीघ्र अच्छा होता है।

टाइफस और इन्फ्लुएंजामें भाप-नहान बहुत उपयोगी होते हुए भी, रोगीकी दशा देख-समझकर ही देना चाहिए। बहुत देर तक नहीं, न अधिक बार। कटिस्नान और मेहन-स्नान बारी-बारीसे लेना चाहिए।

हैजा और पेचिश—इनमें तीव्र ज्वर रहता है। ये पेटकी खराबीके परिणामस्वरूप होते हैं। हैजेमें तो प्रायः इतना तीव्र ज्वर रहता है कि शरीर भीतर तापसे झुलस जाता है। रोगीके ओठ, नाक और आंखोंपर कालापन आ जाता है। हैजेके रोगियोंका पाचन चिरकालसे बिगड़ा रहता है, विशेषकर अजीर्णकी दशामें। हैजे और पेचिशके पहले शरीरमें एक तरहकी व्याकुलता और भार मालूम होता है।

हैजा शरीरकी अच्छी शुद्धि कर जाता है। उस समय शरीरमें संचित दोष किसी बाहरी कारण, जैसे ऋतु-परिवर्तन, अधिक ठंड या गर्मी पानेसे, भय अथवा मनकी उत्तेजनासे कुपित

होकर पेड़ू की ओर तेजीसे लौटने लगता है, विशेषतः उस समय, जबकि त्वचा अपना काम पूरा न करती हो। जीवनी-शक्ति प्रबल होनेपर तो रोगी बचकर अच्छा स्वास्थ्य प्राप्त कर लेता है।

हैजे या पेचिशमें, उस समय भीतर होनेवाले ज्वरकी सारी गर्मी मेदेमें इकट्ठी हो जाती है। भीतर भयंकर ताप होता है और बाहर ठंड लगती रहती है।

इसके उपचारके लिए पहला काम स्वाभाविक रूपसे पसीना लाकर भीतरके तापको कम करना है। इसमें मेहन-स्नान भी बहुत उपयोगी होता है। उससे जीवनी-शक्तिको उत्तेजना प्राप्त होती है। पेड़ूका भाप-स्नान भी बहुत लाभदायक होता है। उसके बाद तत्काल कटि-स्नान या मेहन-स्नान देना चाहिए। बाद को, सम्भव हो तो, एक धूप-स्नान, पसीना आने तक देना चाहिए। यह सम्भव न होनेपर रोगीको इतना उढ़ाकर लिटाना चाहिए कि पसीना आ जाय। बहुत बार कुछ ही स्नानोंसे खतरा दूर हो जाता है।

पेचिशमें भी प्रायः कुछ कटि और मेहन तथा एक भाप नहानसे आराम आ जाता है। ऐसा न हो तो आरम्भिक दशामें ही एक ईंट गर्म करके उसे ऊनी कपड़ेमें लपेटकर गुदाके नीचे रख देना चाहिए। उससे तत्काल दस्त बन्द होंगे। कुछ घंटों बाद एक मेहन-स्नान लेना चाहिए और फिर गर्म ईंट उसी तरह रखनी चाहिए।

हैजेके बाद रोगीके चेहरेमें एक खास परिवर्तन—हल्कापन, दोष-मुक्ति दिखाई देती है।

अतिसार (जो प्रायः बच्चोंको होता है) का इलाज भी हैजेकी तरह ही होना चाहिए। यह भी एक तरहका हल्का

हैजा ही है। इसमें बच्चोंको माता-पिताके शरीरसे गर्मी देनी चाहिए।

वास्तवमें अतिसार और कब्ज दोनों एक ही वस्तुके दो सिरे हैं। दोनों पाचनके दोषसे होते हैं। यदि मेहन और कटि-स्नानसे कब्ज न जाय तो खुले स्थानमें—मैदानमें—शौच जाना चाहिए। ताजी वायुका शरीरपर अद्भुत असर पड़ता है।

: १३ :

ज्वर, मलेरिया, पित्तज्वर, पीलाज्वर आदि

ज्वरोंके अलग-अलग चाहे जो नाम रखे जायं, कारण सबका शरीरमें दोषका प्रकुपित होना ही है। गरम मुल्कोंमें ज्वरकी तेजीका कारण वहांके दिन और रातकी गर्मीमें होनेवाला फर्क है। शरीरमें दोष जितनी शीघ्रतासे सड़ते हैं उतना ही ज्वब तेज होता है। ठंडे देशोंमें ज्वरमें इतनी तेजी नहीं दिखाई देती।

पीला ज्वर सबसे भयानक होता है। इसमें त्वचाका रंग पीला हो जानेके कारण उसका यह नाम पड़ा है। इसके आरम्भिक चिह्न हैं, थकान, सिर-दर्द, शरीरमें ऐंठन, प्यास और त्वचाका रूखापन। पाखाना स्याह रंगका होता है और उल्टी भी काली-काली होती है। आंखोंमें नीलापन आ जाता है।

यह रोग महामारीकी भांति फैलता है। इसकी रोकके लिए हमें निरामिष, अनुत्तेजक, स्थानीय पैदावारवाली खुराक लेनी चाहिए। रहन-सहन प्राकृतिक होना चाहिए और ज्वरके प्रकोपवाले स्थानमें रहते समय नित्य मेहन-स्नान लेना चाहिए। गर्म मुल्कोंमें मेहन-स्नानके लायक ठंडा पानी नहीं मिल सकता, पर जितना ठंडा जिस देशमें मिले वह वहांके लिए ठीक है। ठंडे देशोंमें पानी ठंडा मिलता है तो बादको वहां गरमी देरसे आती है, पर गरम मुल्कोंमें तो गर्मी जल्दी आ जाती है।

कुनैन, ऐंटी पाइरिन या इस प्रकारकी अन्य दवाओंसे, जो

नाड़ियोंमें शून्यता लाती हैं, ज्वरको वास्तविक रूपसे आराम नहीं किया जा सकता। पहले दवाकी हल्की खुराकसे काम चलता है, फिर धीरे-धीरे खुराक बढ़ानी पड़ती है, जिसका परिणाम यह होता है कि अनेक अंगोंमें शून्यता आ जाती है। उस शून्यता-को दूर करना तो और भी कठिन होता है।

मलेरिया

यह ज्वर प्रायः ऋतु-परिवर्तन अथवा खास समयपर होता है—जाड़ा लगकर या हाथ-पांव ठंडे होकर। फिर पसीना आकर उतर जाता है। कभी रोज और कभी एक दिन छोड़कर आता है।

बहुत बार तो यह कटि-स्नान और मेहन-स्नानसे जाता रहता है, पर कई बार देर लगती है और भाप-नहान वगैरहसे रोगी कमजोर हो जाता है। मलेरियामें—वह नया हो या पुराना—धूप-नहान और पूरे पेटपर मिट्टी की पट्टी बहुत लाभ-कारी होती हैं। ज्वरकी दशामें नाभिके नीचे संपूर्ण पेड़ूपर और नाभिसे ऊपर ५–६ अंगुल तक मिट्टीकी पट्टी लगानी चाहिए।

पिंडोल या चिकनी मट्टी पानीमें गाढ़ी लेई-सी बनाकर जितना स्थान ऊपर बताया गया है उतनेपर आनेवाले टाटके टुकड़ेपर आध अंगुल मोटाईमें फैला लें। टाटके टुकड़ेको चारों ओरसे आध-आध अंगुल छोड़ दें। उसके बाद, उसे मिट्टीके रुखसे—यानी मिट्टी पेटपर, टाट ऊपर रहे—पेटपर रख दें, ऊपरसे एक गरम ऊनी कपड़ेकी पट्टी लगा दें। पट्टीको कसकर न बांधें। पट्टी लगानेसे पाखाना-पेशाब आता है और पेट हलका हो जाता है। यह पट्टी भीतरी दाहको

खींचती है और घबराहटको कम करती है। ज्वरकी दशामें कटिस्नान या मेहन-स्नान दें अथवा बारी-बारीसे दें।

ज्वर में पहले दिन तो सिर्फ मिट्टीकी पट्टी दें। ज्वर उतरने या कम होनेपर कटि या मेहन-स्नान दें और ज्वर उतरते ही यदि धूप-स्नानका मौका हो तो तुरत या उसके बाद जब पहला मौका हो, एक धूप-नहान दें—जाड़ेमें ठंडे देशमें १—१॥ घंटे-का, गर्मियोंमें जितना रोगी सह सके। धूप सारे शरीरपर पत्ते रखकर दें। फिर १५—२० मिनटका कटिस्नान और ४—५ घंटे बाद २०—२५ मिनटका मेहन-स्नान दें। भूख लगनेपर फल, दूध, मुनक्का और उबली हुई शाक-सब्जी दें। कई दिनों तक अन्न न दें। जो दिन खाली हो उस दिन धूप-स्नान दें। पारीके दिन कटि-स्नान और मेहन-स्नान अथवा केवल मेहन-स्नान दें। उस दिन कुछ खानेको न दें। बहुत भूख लगे तो सिर्फ फल दें। दो-तीन पारी टलनेपर फिर अन्न दे सकते हैं।

मलेरियाका पुराना विष शरीरमें रहनेपर या तिल्ली-यकृतके बढ़ जानेपर चिकित्सा ज्यादा समय तक करनी पड़ती है। ज्वर लौट-लौटकर आता रहता है। निराश न होकर चिकित्सा करते रहनेसे अन्तमें अवश्य लाभ होता है। ज्वर छूटनेके ८—१० दिन बाद तक चिकित्सा करनी चाहिए।

मिट्टीकी पट्टी उदर-रोगोंमें, विशेषकर कब्जकी दशा में या पेटके दर्द व अफारेकी दशामें भी, बहुत लाभ-दायक होती है।

उपर्युक्त चिकित्सा मलेरियाके सिवा अन्य ज्वरोंमें भी लाभदायक है। जिन दशाओंमें रोगी ज्वरसे बेहोश हो गया हो, उस दशामें भी, यह पट्टी बराबर लगानेसे—हर तीसरे-चौथे

घंटे बदलते रहनेसे—और चार-चार, पांच-पांच घंटेपर कटिस्नान देनेसे रोगी होशमें आ जाता है।

आंतोंमें मल सूख गया हो तो भी इस मिटटीकी पट्टी और कटि-स्नानसे वह ठीक हो सकता है।

जिन्हें यह आशंका हो कि बिना दवाके रोगके कीड़े कैसे नष्ट होंगे, उन्हें सूर्यकी किरणोंका प्रभाव समझना चाहिए। धूपमें फैलानेसे कपड़ोंके रोग-कीटाणु मरते हैं तो फिर धूपके प्रभावसे शरीरके रोग-कीटाणु क्यों न मरेंगे? वृक्षोंमें और मनुष्योंमें भी सूर्यसे ही तो सारी शक्ति आती है।

: १४ :

कुष्ठ

कुष्ठ प्रायः गर्म आब-हवावाले देशोंमें ही होता है। इसके दो भेद मुख्य हैं—शुष्क और गलित। गलित कुष्ठमें शरीर शनैः-शनैः सड़ता रहता है। इसमें व्यक्तिको बड़ी तकलीफ होती है। शुष्क कुष्ठमें भी गलित कुष्ठकी भांति ही पाचन-शक्ति तो नष्ट हुई ही रहती है। हाथ-पांवोंमें अनेक प्रकारके चकत्ते—दाग—हो जाते हैं। आन्तरिक तीव्र ज्वरका यह एक निश्चित चिह्न है। पहले अंगुलियोंके पोरुओंका और फिर शरीरके अन्य भागोंका मांस गलने लगता है।

कुष्ठका भी कारण शरीरमें दोष-संचय ही है। यह रोग पैतृक अथवा प्रकृति-विरुद्ध जीवन बितानेसे होता है। इसका मुख्य स्थान पेड़ अथवा पाचन-संस्थान है। गर्म मुल्कोंकी सड़ी हुई गर्मी सड़न-क्रियाको तीव्र कर देती है। दोष तीव्र गतिसे शरीरके अन्तिम सिरोंकी ओर जाता है।

कुष्ठके रोगीके शरीरमें तीव्र ज्वर—ताप रहता है, पर बाहरसे उसे एक तरहकी ठंड-सी लगती रहती है। सूखे कोढ़में अंगुलियोंके सिरे भीतरी तापके कारण सूख जाते हैं, क्योंकि पाचनकी निर्बलताके कारण उन अंगोंमें खुराकका पूरा अंश नहीं पहुंचता। अतः उस दशामें चाहे जितनी अच्छी खुराक क्यों न खाई जाय, वह शरीरमें-से होकर गुजर जाती है, लगती नहीं—काम नहीं देती।

कोढ़की चिकित्सा भी ज्वरकी चिकित्साकी भांति ही होनी चाहिए ।

प्राकृतिक जीवनपर चलनेवालोंको कोढ़की छूतसे डरनेका कोई कारण नहीं है ।

आगे तीन कुष्ठग्रस्त लड़कोंके (उम्र १५, १३, ९) चित्र दिये जा रहे हैं । इन्हें सब बड़े-बड़े डाक्टरोंने जवाब दे

(१५ वर्ष)

दिया था । बादम ये तीनों ही जल-चिकित्सासे अच्छे हुए ।

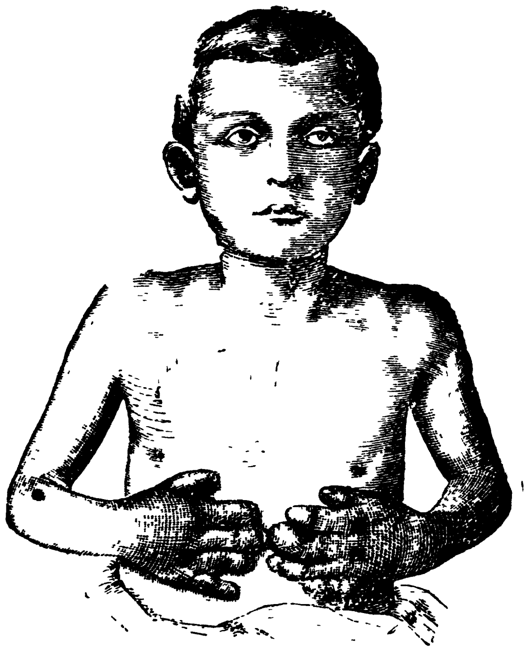

(१३ वर्ष)

(९वर्ष)

इनके हाथोंकी अंगुलियोंके सिरे गल गये थे और किसी-किसी-

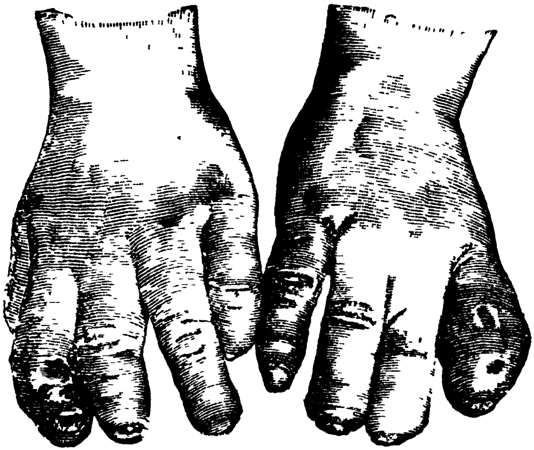

(९ वर्षके लड़केके हाथ)

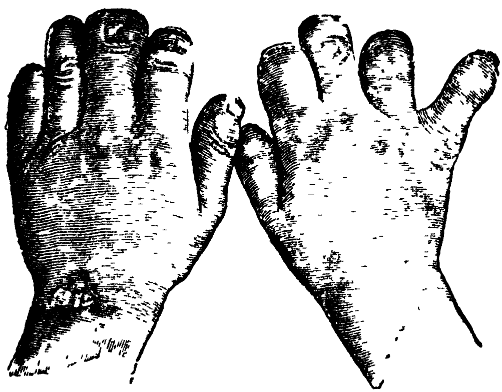

(१३ वर्षके लड़केके हाथ)

के पोरुए भी। बाकीके पोरुए बहुत फूले हुए थे। लगता था, यह

भी चले जायंगे। सबसे छोटे बच्चेके दाहिने हाथकी कानी (तर्जनी) अंगुली गलने लगी थी। दूसरे दोके पांवोंकी दशा

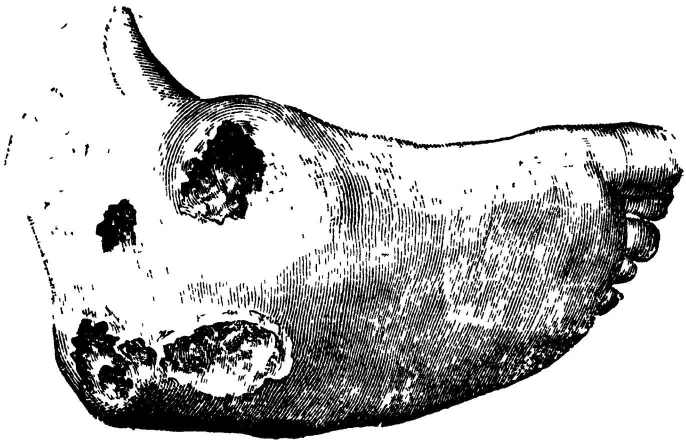

(१५ वर्षके लड़केका पांव)

भयंकर थी। गंदगी भरी होनेसे फूलकर बेढंगी शक्ल हो गई थी। घाव हड्डियों तक पहुंच गये थे। पीप निकलती थी। हाथ, पांव, बाजू, टांग, कोहनी और घुटने तक सम्पूर्ण त्वचा शून्य हो गई थी। सूनापन कहांतक पहुचा है, यह देखनेको डाक्टरने हाथमें गहराई तक एक सुई चुभा दी थी।

रोगियोंको रोज दो-तीन कटि और मेहन-स्नान दिये गये, खुले मैदानमें पूरा व्यायाम पसीना लानेतक कराया गया। चिकित्साके आरम्भमें रोगियोंके शरीरसे बड़ी गन्दगी निकली, असह्य बदबू थी उसमें।

खानेको इन्हें बिना छने आटेकी रोटी—सेवके साथ, शामको रोटी-तरकारी दी जाती थी। खुराकमें मांस, अंडे वगैरह कोई

उत्तेजक पदार्थ नहीं दिया जाता था ।

(१३ वर्षके लड़केका पाव)

दो हफ्तोंम ही घावोंका पीप बन्द हो गया । धीरे-धीरे

घाव सूख गये। दोष पेड़ूसे चलकर जैसे हाथ-पांवोंकी ओर आया था वैसे ही, पेड़ूकी ओर लौट चला। उस तरफके खिचाव से लड़के इस चीजका अनुभव करते थे। बड़े लड़केके लिए खास नापके जूते बनवाये गये थे, पर वह उन्हें पहन नहीं पाता था। चार महीनेके इलाज के बाद वह साधारण जूते पहनने लायक हो गया। स्पर्श-ज्ञान भी लौट आया। यह सब पाचन सुधरनेके कारण ही सम्भव हुआ था।

चिकित्साके पहले लड़कोंको मुश्किलसे थोड़ी भूख लगती थी, लेकिन हफ्तेभरके अन्दर ही उन्हें अच्छी भूख लगने लगी। कुष्ठमें भी यह चिकित्सा उतनी ही कारगर होती है, जितनी अन्य रोगोंमें, क्योंकि कारण तो कुष्ठका भी वही है, जो दूसरे रोगोंका है।

: १५ :

खुजली, आंत उतरना

हम देखते हैं कि बसन्त ऋतुमें एक ही दिनकी गर्मी पेड़ोंके हरे और ताजे पत्तोंपर हजारों कीड़े पैदा कर देती है। कीड़ों द्वारा उन सुन्दर कोमल पत्तियोंका नाश होते देखकर हमें बड़ा दुःख होता है, पर हम कोई उपाय नहीं कर सकते।

फिर एक ठंडी रात आती है और वे सब कीड़े उसी तरह अकस्मात् गायब हो जाते हैं। यह प्रकृतिकी करामात ही तो है। हमारे शरीरके भीतरके कीड़े भी इसी नियमके अधीन हैं।

खुजलीके, पेटके अन्दरके कीड़े अथवा जूं वगैरह उसी दशामें जीवित रह सकते हैं, जबकि उनको भोजन प्राप्त करनेकी उचित सुविधाएं मिलती हैं, यानी जब हमारे शरीरमें दोष-संचय होता है। साथ ही, कीड़ोंके जीवित रहनेके लिए गरमी भी आवश्यक होती है। गरमी उन्हीं शरीरोंमें पाई जाती ह, जिनमें दोष-संचय होता है। उस असाधारण गरमीको मध्यम दर्जेपर ला देने और शरीरकी गन्दगीको बाहर निकालनेमें सफल हो जानेपर उन कीड़ोंकी जिन्दगी संदिग्ध हो जाती है और अन्तमें वे बहुत जल्द खत्म हो जाते हैं।

उस गरमीको घटानेके लिए कटिस्नान, मेहन-स्नान धूप-नहान तथा भाप-नहान रामबाण सिद्ध हुए हैं।

आंतका उतरना—इसका कारण है पेड़ूमें विकृत-पदार्थका

भार—दोष-संचय और उसीके साथ अत्यन्त तनाव। आंतें जरा भी रुकावट पाकर भीतरी दबावके कारण छेद करके बाहर निकल आती हैं। भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंमें झिल्ली फटनेके स्थान भिन्न-भिन्न होते हैं, पर इनका कारण हमेशा एक ही होता ह। चोटसे, गिरने वगैरहसे झिल्ली फट सकती है, पर यह उसका असली कारण नहीं ह। जल-चिकित्सासे ये छेद अपने-आप बन्द हो जाते हैं और आंत अपने स्थानपर चली जाती है। आराम होनेका समय दोषकी संचित मात्रापर निर्भर है और इस बातपर भी कि वह छेद कितना पुराना हो गया है। जीवनी-शक्तिसे रहित वृद्धोंकी तुलनामें युवा रोगियोंको शीघ्र फायदा होनेकी आशा रहती है।

: १६ :

सरतान, कैंसर, बदगोश्त

कैंसर प्रकट होनेके बहुत पहले गर्दनपर गांठें और शोथ होता है। पाचन-शक्ति कमजोर पाई जाती है। जुलाब या एनिमाके बिना दस्त नहीं होता। 'बराबर दस्तावर दवाएं लेनेके कारण भीतर एक सड़नकी दशा पैदा हो जाती है, जिससे क्षय और कैंसर उत्पन्न होता है।

कैंसरमें असह्य पीड़ा होती ह। इसके लिए डाक्टर द्वारा र्मफिया की सुई देनेपर एक बार कुछ राहत होती है, लकिन सारे शरीर और स्नायुओंको इससे हानि पहुंचती है।

प्राकृतिक चिकित्सामें यह देखनेकी जरूरत नहीं होती कि कैन्सर कहां, किस अंगमें है, क्योंकि सबका कारण तो एक ही है। दोष-संचयके अनुसार ही भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंमें स्थान विभिन्नता पाई जाती है। पर कैन्सर आराम होनेकी शर्त रोगीकी पाचन-शक्तिमें सुधार और उसमें जीवनी-शक्तिके विद्यमान होनपर निर्भर है। इसकी चिकित्सा प्राकृतिक चिकित्साके किसी अच्छे जानकारकी देख-रेखमें होनी चाहिए, क्योंकि यह रोग क्षय और जलोदरकी भांति ही बहुत भयंकर है।

कभी-कभी किसी रोगीको घर्षण मेहन-स्नानमें सिरेपर जो घाव हो जाते हैं (कैन्सर जैसे रोगमें), वे भीतर किसी छिपी हुई जलनके कारण होते हैं। ऐसे घावोंमें या इसके बाद

आस-पासके घावोंमें पीप निकलने लगती है। कुछलोग गलतीसे इसे रगड़के कारण पैदा हुआ घाव मानते हैं। यदि घाव रगड़नेके स्थानके इधर-उधर हो तो उसपर गीली पट्टी रखनी चाहिए।

खण्ड ३

: १ :

घावोंकी चिकित्सा

लोगोंका यह खयाल बिलकुल गलत है कि घावोंकी चिकित्सा तो चीरफाड़ और दवाओंसे ही हो सकती है। वास्तवमें तो प्राकृतिक चिकित्सा द्वारा घाव, दवाओंकी अपेक्षा एक-तिहाई कम समयमें अच्छे होते हैं, और कम तकलीफमें। कोई घाव ऐसा नहीं, जो इससे अच्छा न हो। दूसरे, चीरफाड़के कारण जो दाग रह जाते हैं, वे इसमें नहीं रहते।

कहीं कट जाने या चोट लग जानेपर वहांसे खून तेजीसे निकलते देखा जाता है। वह खून उस चोटके घावको भरनेके लिए ही भीतरसे बाहर आता है। उस स्थानमें सूजन और गरमी भी इसीलिए होती है।

हर घावमें ताप तो होता ही है। घावकी दशामें ज्वर होनेपर कटि-स्नान और मेहन-स्नान द्वारा उस ज्वरको दूर करना चाहिए। चोटके कारण हुए घावमें सेप्टिक ज्वर उसी शरीरमें होता है, जिसमें दोष-संचय होता है। नीरोग शरीरके ऐसे घाव तो बहुत शीघ्र आराम होते हैं। सरदी, गरमी या भावावेग वगैरहकी अधिकताके कारण दोष जैसे प्रकुपित हो जाते हैं वैसे ही चोटसे घाव होनेपर भी प्रकुपित होते हैं। चोटवाले स्थानपर शरीर अधिक रक्त भेजता है, इसलिए उस खूनके साथ वहां विजातीय

द्रव्य भी अधिक पहुंचता है और वह स्थान दोष निकलनेका एक द्वार बन जाता है ।

जिन पशुओंकी कोई दवादारू नहीं होती, उनके घाव अद्भुत रूपसे बहुत जल्द आराम हो जाते हैं। पशु अपने घावों को चाट-चाटकर साफ करते रहते हैं और बहुत पीड़ामें खाना-पीना भी छोड़ देते हैं ।

चोट या कटे हुए घावपर पतले कपड़ेकी कई तहकी ठंडे पानीमें भिगोई हुई गद्दी लगाकर ऊपरसे कपड़ेकी हल्की पट्टी बांध देनी चाहिए और उस घावको ठंडे पानीमें तबतक रखना चाहिए जबतक कि पीड़ा दूर न हो जाय। उसमें कई घंटे भी लग सकते हैं। घावको कपड़ेसे बहुत जोरसे नहीं बांधना चाहिए । इससे रक्त-संचारमें बाधा होती है। कपड़ेकी गद्दी इतनी बड़ी बनानी चाहिए कि घावके किनारोंसे एक अंगुल बाहर रहे । इससे निकटके हिस्सेका रुधिरप्रवाह रुकेगा नहीं। पानीकी गद्दीपर एक ऊनी पट्टी लपेट देनी चाहिए । इससे गीली गद्दी खिसकेगी नहीं, उसका दबाव ठीक रहेगा और उससे शरीरमें उचित गरमी भी बनी रहेगी। गद्दीको जलमें डुबोकर थोड़ा-सा निचोड़ लेना चाहिए। गद्दी ठंडी रहनेतक जलन नहीं होगी । गद्दी गरम हो जानेपर उसे फिर ताजे ठंडे जलमें डुबो लेना चाहिए। शुरू-शुरूमें तो जल्दी-जल्दी यह करना चाहिए। कुछ दशाओंमें गद्दीके बजाय मिट्टीकी पट्टी रखनी आवश्यक हो सकती है । साफ मिट्टीमें पानी मिलाकर लेई-सी बना लें और एक कपड़ेपर फैलाकर मिट्टीके रुखसे घावपर लगा दें। बदगोश्त व सड़े हुए घावमें भी मिट्टी-की गद्दी लगानी चाहिए।

घावपर अनुत्तेजक और अल्पाहारका भी बहुत अच्छा असर होता है। चोकरदार आटेकी रोटी, फल और पीनेको सादा पानी देना चाहिए। भोजन सुपाच्य होनेसे शरीरमें गरमी कम बढ़ती है। घावोंकी चिकित्सामें यह जरूरी है।

घावोंकी चिकित्सामें कटि-स्नान और मेहन-स्नान भी बहुत काम करते हैं। यह शरीरकी गरमीको घटाते हैं। लेकिन रोगी लेनेकी हालतमें हो तभी ये स्नान लेने चाहिए।

चोटके कारण भीतरी हिस्सेमें ग्रंथि पड़ जानेकी दशामें भाप-नहान देकर कटि-स्नान और मेहन-स्नान देना चाहिए।

जलनेके घावमें ठंडा पानी बहुत अच्छा साधन है। यदि कई घंटेतक उस स्थानको पानीमें रखा जाय तो जलन और दर्द कम होगा। थोड़ी देर रखनेसे पीड़ा बढ़ भी सकती है। पर पीड़ाको सहकर घावकी जगहको देर तक पानीमें रखना चाहिए। जलनकी पीड़ा घट जानेपर पानीकी ठंडी गद्दी रखनी चाहिए। नदीका बहता पानी या बरसातका पानी इसके लिए अधिक लाभदायक होता है।

शरीरमें दोष-संचय होनेकी स्थितिमें ऐसे किसी भी घावके अच्छे होनेमें देर लग सकती है। उस दशामें कटि-स्नान वगैरह लेने चाहिए।

गोलीके घावमें भी पानीकी पट्टी खूब काम दे सकती है। फ्रैक्चरमें भी टूटी हुई हड्डीको काठ, दफ्ती या वृक्षकी छालके सहारे टिकाकर ठंडी गद्दी बांधनी चाहिए।

बिना ऊपरी आघातके जो घाव हो जाते हैं वे तो शरीरमें संचित दोषको दूर करनेपर ही आराम हो सकते हैं। एलोपैथीमें एंटीसेप्टिक औषधियों द्वारा या इन्जेक्शनों द्वारा जो ऐसे

घावोंकी चिकित्सा की जाती है, वह तो शरीरमें संचित दोषकी वृद्धि ही करती है ।

डंक

मनुष्यके रुधिरके परमाणुओंमें प्रत्येक वस्तुका प्रभाव अत्यन्त शीघ्र पहुंचता है । रक्त जब किसी निकृष्ट तत्त्वके स्पर्शमें आता है तो उसमें एक प्रकारकी तीव्रता पैदा हो जाती है, जैसा कि सड़ानकी दशामें होता है । पूर्ण नीरोग मनुष्यके शरीरमें भी, उसकी शारीरिक दशा ठीक होनेकी हालतमें, जहरीले सांपके काटनेसे शरीरमें उसी प्रकार ज्वरके चिह्न पैदा हो जाते हैं, जैसे कि सड़नकी दशामें होते हैं ।

शरीरमें दोष-संचयकी अवस्थामें रुधिरमें किसी प्रकार विष पहुंच जानेपर वह बहुत जल्द असर करता है । इसीलिए एकको किसी विषैले डंकका असर कम होता है, दूसरेको ज्यादा । जिसके दोष अधिक होता है, उसके असर तेज होता है ।

जहां डंक लगता है या कीड़ा काटता है या चोट लगती है वहां सूजन आ जाती है । वह स्थान छूनेमें गरम लगता है । उस गरमीको शान्त करनेके लिए हमें उस स्थानपर ठंडक पहुंचानी चाहिए । रुधिरमें विष फैल जानेकी कठिन दशामें घाववाले स्थानको पानीमें, सम्भव हो तो बहते पानीमें रखकर ठंड पहुंचाई जानी चाहिए । यदि उस हिस्सेको ठंडे जलमें न रखा जा सके तो उस स्थानपर ठंडे पानीकी गद्दियां बराबर रखनी चाहिए । साथ ही बारी-बारीसे मेहन और कटि-स्नान देने चाहिए ।

सूजनके पहले ही उस हिस्सेको ठंडे पानीमें रखना चाहिए

या उसपर ठंडे पानीकी गद्दी देनी चाहिए। उस दशामें भाप-नहान लेकर तत्काल मेहन या कटि-स्नान लेनेसे फौरन फायदा होता है। वैसे भी, दो या तीन घंटेके अन्तरसे कटि या मेहन-स्नान देनेसे चोटसे आई हुई गर्मी––ज्वर––को दूर करनेमें मदद मिलती है। ऐसी दशामें उपवास करना उचित है और खाना ही हो तो चोकरदार आटेकी रोटी और फल खाने चाहिए। पानी पीना हानिकारक नहीं है। ठंडे नहानोंके बाद गरमी लानेको धूपमें बैठना अथवा खुले स्थानमें कुछ मेहनत करनी चाहिए। यदि डंकवाले स्थानमें सख्ती आ गई हो तो स्थानीय भाप देनी चाहिए और फिर कटि-स्नान या मेहन-स्नान। भाप-नहानसे पसीने द्वारा शरीरसे दोष काफी मात्रामें निकल जाता है।

: २ :

स्त्री-रोग

स्त्रियोंके शरीरकी बनावट जटिल होनेके कारण उन्हें जननेन्द्रिय-सम्बन्धी रोग अधिक होते हैं, साथ ही बहुत कष्टदायक।

मासिक, गर्भ, प्रसव तथा बच्चेको दूध पिलानेके समयकी तकलीफोंके सिवा अन्य पीड़ाएं भी होती हैं। इनका कारण होता है कामोपभोग, खाऊपना—ठूंसकर खाना, उन्मार्ग-गामिता। यों भी स्त्रियां ठीक जीवन नहीं बितातीं, स्वास्थ्यकी ओर ध्यान नहीं रखतीं, खुलेमें घूमती-फिरती नहीं, व्यायाम नहीं करतीं, विलासके साधनोंकी ओर अधिक ध्यान देती हैं, पाखाने, पेशाबकी हाजतको लज्जावश रोकती हैं।

जैसे स्वास्थ्यके मामलेमें शहरी मर्द देहातके मुकाबलेमें हेठे रहते हैं वैसे ही शहरी स्त्रियां भी पिछड़ी हुई रहती हैं।

प्राकृतिक चिकित्सा-विधि स्त्रियोंमें बहुत प्रिय हुई है, इसलिए कि इसमें जांचका तरीका उनकी लाज नहीं लूटता। इसके मुखाकृति विज्ञानमें किसी गुप्तांगकी परीक्षाकी आवश्यकता नहीं होती।

मासिक दोष—स्त्रीका मासिक होना इस बातका सबूत है कि वह गर्भ-धारणके लिए तैयार है। गर्भ न रह जाने तक स्वस्थ स्त्रीको नियमित पीड़ारहित मासिक होता रहता है। शरीरमें दोष-संचय होनेपर ही मासिकमें पीड़ा, अनिय-

मितता, अल्पता या अधिकता दिखाई देती है।

स्त्रीके मासिकका सम्बन्ध चन्द्रमाससे है। पूर्ण नीरोगी स्त्रीका मासिक पूर्णिमाके आसपास होना चाहिए और तीन चार दिन तक रक्त गिरनेके बाद बन्द हो जाना चाहिए। फिर २९ दिनके बाद आना चाहिए। जिन स्त्रियोंको उस समयके आसपास मासिक नहीं होता, उनके उदरके भीतरी भागोंमें दोष-संचय समझना चाहिए। मासिकका समय पूर्णिमासे जितनी दूर जायगा, दोष उतना ही अधिक माना जायगा। यदि दो या तीन सप्ताह बाद ही रक्त गिरने लगे और दो हफ्ते तक चलता रहे तो समझना चाहिए कि दोष-संचय अधिक है और बहुदिनी है।

मासिक-कालमें स्त्रीको शान्त रहना चाहिए। किसी उत्तेजनात्मक कार्यसे बचना चाहिए। यही बात गर्भकी अवस्थामें भी होनी चाहिए। गर्भपर स्त्रीके अच्छे और बुरे कार्यों और विचारोंका बड़ा प्रभाव पड़ता है। इन दिनोंमें हुए रोग बहुत हानिकर साबित होते हैं।

मासिककी खराबीकी जड़ तो उसके पहले रोगिणीके पाचनका बिगड़ना ही होता है। पाचन-क्रियाको सुधार लेने, कब्ज न होने देने और पेड़में मौजूद अनियमित और विशेष गरमीको घटा देनेपर ऐसे रोग अपने-आप ठीक हो जाते हैं।

मेहन-स्नान, कटि-स्नान, भाप-नहान तथा सादा भोजन मासिक दोषोंको दूर करनेमें बहुत लाभदायक सिद्ध हुए हैं।

मासिकके समयका रक्त साबित करता है कि शरीरमें रसादि—वायु, पित्त, कफ—आवश्यकतासे अधिक हो गये है। गर्भ धारणकर लेने पर ये सब रस भ्रूणके पोषणमें लग

जाते हैं। भ्रूणके विकासमें पूर्णिमाके दिन बहुत नाजुक होते हैं।

गर्भाशय-सम्बन्धी रोग चन्द्रमाके बढ़नेके साथ बढ़ते और घटनेके साथ घटते हैं। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य प्रकृतिसे कितना जुड़ा हुआ है।

गर्भकालमें स्त्रीके विचारोंका उसके गर्भपर कितना असर पड़ता है, इसके कुछ उदाहरण यहां दिये जाते हैं :

एक गर्भवती स्त्री चूहोंसे बहुत डरती थी। एक दिन एक चूहा उसकी खुली बांहपरसे निकल गया। यह पूर्णमासी-के आसपासका दिन था।

उस स्त्रीको इसका ऐसा डर बैठ गया कि स्वप्नमें भी उसे इसका भान हुआ करता था। छः महीने बाद बच्चा होनेपर देखा गया कि उस नवजात बच्चेकी बांहपर चूहेकी पूरी—दुम-सहित एक शक्ल थी और उतने स्थानपर चूहेके-से भूरे बाल भी थे।

एक दूसरी स्त्रीके पेटमें छठवां बच्चा था। उस स्त्रीके खुदके और पतिके तथा उसके पांचों बच्चोंके बाल काले थे। इस छठवें गर्भमें उसके पास किसी रिश्तेदारकी एक लड़की रहा करती थी, जिसे वह स्त्री बहुत प्यार करती थी। इस लड़कीके बाल बहुत सुन्दर थे—लम्बे, सुनहले, घुंघराले। वह स्त्री चाहती थी कि मेरे होनेवाले बच्चेके बाल भी ऐसे होते तो बड़ा अच्छा होता। गर्भके पहले जिन तारीखोंमें उसे मासिक हुआ करता था, वे दिन आनेपर उसकी यह इच्छा उग्र हो जाती। वह इसके सपने भी देखा करती। पांच महीने बाद उसके एक लड़की हुई, जिसकी सूरत-शक्ल तो माता-पितासे मिलती थी,

लेकिन बाल उस लड़कीकी तरह के थे।

एक गर्भवती स्त्री एक छोटे कुत्तेके साथ गाड़ीमें जा रही थी। कुत्ता नीचे कोई चीज देखकर उसपर झपटा और दुर्भाग्यवश गाड़ीके पहिएके नीचे उसका सिर कुचल गया। उस स्त्रीको इससे बड़ा सदमा पहुंचा और यह दृश्य हमेशा उसके दिमागमें घूमता रहा। छः महीने बाद उसके मरा हुआ बच्चा जन्मा, जिसका सिर बिल्कुल कुचली हुई शक्लका था।

एक स्त्रीके एक ऐसा बच्चा पैदा हुआ जिसका मुंह एक कानसे दूसरे कानतक खुला हुआ था। स्त्रीने एक बहुरूपिए-को इसी तरहका चेहरा लगाये हुए देखा था और उससे वह इतनी डर गई थी कि कई राततक सो न सकी थी। यह घटना उसके मासिक होनेवाले दिनोंमें हुई थी।

इसलिए, कम-से-कम उन तीन-चार दिनोंमें तो यानी गर्भके पूर्व, जिन दिनोंमें उसे मासिक होता हो, स्त्रीको बहुत सावधान रहना चाहिए। इन दिनोंकी वृतियोंका होनेवाले बालकके चरित्र और स्वभावपर बड़ा असर पड़ता है। क्रोध, चोरी, डरपोकपना, लोभ, छल तथा शूरवीरता आदि भले-बुरे सभी भावोंका असर गर्भके बच्चेपर पड़ता है।

सारांश यह कि जो भले-बुरे प्रभाव हमारे मन और इन्द्रियों पर पड़ते हैं वे वहीं तक सीमित न रहकर स्नायुओं द्वारा पेड़ और उदरके भीतरी हिस्सेपर भी असर डालते हैं।

: ३ :

गर्भाशय सरक जाना, पेसरीका प्रयोग

गर्भाशय सरकनेकी क्रिया भी वहां दोष-संचय के कारण ही होती है। दोपके कारण भीतर ताप तथा दवाव पैदा होता है एवं गर्भाशय छोटा और अल्प शक्तिवाला अंग होनेके कारण, अपने स्थानमे हट जाता है। एलोपैथ चिकित्सक इसके लिए गर्भाशयके मुंहपर एक रबड़का छल्ला लगानेकी सलाह देते हैं, पर उससे कोई स्थायी लाभ नहीं होता।

प्राकृतिक चिकित्सासे पेड़ूकी गर्मी तथा दवाव कम हो जानेपर गर्भाशय स्वयं सही स्थानपर आ जाता है और फिर सरकता नहीं। कारण दूर हो जानेपर सरकनेकी सम्भावना जाती रहती है। यही वात गर्भाशयके तिरछा होनेके बारेमें भी कही जा सकती है। शस्त्र-क्रियासे अथवा हाथसे गर्भाशयको ठीक करना उस अंगको सदाके लिए हानि पहुंचाना है।

वन्ध्या स्त्रियोंके बारेमें प्राय: यह समझा जाता है कि उन्हें सिर्फ संतान ही नहीं होती, बाकी तो वे पूर्ण नीरोग हैं। पर यह धारणा बिल्कुल गलत है। योनि, गर्भाशय और अंडकोशोंमें दोष-संचयके कारण ही वन्ध्यत्व होता है। दोषकी मात्रा कम होनेपर भी गर्भ रह तो जाता है, पर पेड़ूमें दोष-संचयकी अधिकतासे पड़नेवाले खिचाव या दबावके कारण गर्भपात हो जाता है या समयसे पहले बालकका जन्म हो जाता है।

गर्भपात विशेषत: आरम्भके चार महीनोंमें हुआ करता है

और किसी प्रकारकी आकस्मिक उत्तेजना, भय या धक्केके कारण होता है। दोष-संचयमें अधिक उत्तेजनाके फलस्वरूप यह दशा उत्पन्न होती है। कमरमें कसकर पेटी बांधना अथवा किसी तरह कमरको कसना भी गर्भपातका दूसरा कारण है। देहाती स्त्रियां, जो नगरोंकी स्त्रियोंकी अपेक्षा अधिक स्वास्थ्य-प्रद परिस्थितिमें रहती हैं, गर्भपातसे बहुत कम परिचित होती हैं।

गर्भपातको रोकनेका उपाय गर्भाशयके निकटके दोष-संचयको दूर करना है। शस्त्र-क्रिया अथवा दवादारूसे यह कार्य कदापि नहीं हो सकता।

सृष्टिमें प्रातःकालका समय अधिक सजीवतापूर्ण होता है, इसीलिए गर्भधारणके लिए वही समय अत्युत्तम है। दूसरे समयमें अधिक निर्बलता आती है और गर्भ रह जानेपर भी बालककी वृद्धि अच्छी नहीं हो पाती।

शरीरमें दोप-संचयकी मात्रा बहुत अधिक न होने और पर्याप्त जीवनी-शक्ति होनेपर बांझपन दूर हो सकता है।

थनैली

बच्चेका सर्वोत्तम और पूर्ण स्वाभाविक आहार दूध ही है। स्त्रीके सब अंगोंमें श्रेष्ठ अंग स्तन है, पर दुर्भाग्यवश आज संतानको पालन करनेके उसी स्वाभाविक साधनकी बहुत कम परवा की जाती है। अनेक माताएं अपने बच्चोंको दूध पिलानेमें असमर्थ पाई जाती हैं। ऐसी माताएं वास्तवमें जननी बननेकी अधिका-रिणी नहीं हैं। पशुओंमें तो नहीं पाया जाता कि कोई माता अपने बच्चेको दूध न पिला सकती हो या दूध पिलानेसे उसके स्तनोंमें जख्म होते हों। मनुष्योंमें ऐसा होनेका कुछ कारण होना

चाहिए। गर्भवती होने और दूध पिलानेके पहले जिन स्त्रियोंके स्तनोंका परिमाण बहुत बड़ा होता है वे दूध पिलानेके बिल्कुल अयोग्य होती हैं और उनके सिरोंपर जख्म हो जाते हैं। कुमार्यावस्थामें इस प्रकार स्तनोंका बड़ा होना आरोग्यताका चिह्न नहीं है, बल्कि इससे तो यह प्रकट होता है कि शरीरमें दोष-संचय अधिक है।

गांवोंमें स्त्रियां बिना किसी तकलीफके बच्चे जनती और दूध पिलाती पाई जाती हैं। गर्भवती होनेके पहले अथवा दूध पिलानेकी अवस्थामें उनकी छाती बड़ी होती नहीं देखी जाती। दूधका कम उतरना भी स्त्रीकी अत्यंत दुर्बलताके कारण होता है और उसका कारण होता है कि दोष-संचय बहुत पुराना है, और बहुत गहराईमें है।

बच्चेकी मांको दूध उतारनेके लिए मांस, घी, मसाले, खोआ, छेना, वगैरह पुष्टिकारक चीजें दी जाती हैं, जिससे वह आगे दूध पिलानेकी हालतमें नहीं रहती। यदि जच्चाको सादी, अनुत्तेजक खुराक दी जाय और आवश्यकतानुसार कटिस्नान, मेहनस्नान और भापस्नान दिये जायं तो दूध उतरेगा और थनैली भी जाती रहेगी।

: ४ :

प्रसूत ज्वर

प्रसूत ज्वरका कारण बच्चा जननेके बाद स्त्रीके शरीरमें दोष-संचयका रह जाना है। गर्भाशय में रुके हुए केवल रक्त वगैरहकी वजहसे प्रसूत ज्वर नहीं होता। प्रसूत ज्वरसे मुक्ति पानेके लिए, यानी शरीरसे दोष निकाल देनेके लिए मेहन-स्नान लेना चाहिए।

ऐसे समय मेहन-स्नानके लिए पानीकी ठंडक ६४ डिग्री रखनी चाहिए, लेकिन यदि आरामसे सहा जा सके तो ५४ और ६४ के बीच में भी रखी जा सकती है। सुहावना लगना शर्त है।

ऐसे समयमें डाक्टर तो उल्टा काम करते हैं। सिरको ठंडा और पेड़ूको गरम करते हैं। ठंडा करनेका अर्थ है वहां रक्त अधिक मात्रा में लाना। सिरको ठंडक पहुंचानेसे वह ठिठुरेगा, सूना होगा। उस ठंडकको दूर करनेके लिए दूसरे अंगोंका रक्त वहां पहुंचकर उससे गरमी पैदा करेगा और दूसरे अंगोंमें ठिठुरन आयेगी। यदि पेड़ूको ठंडा किया जाय तो उसके नजदीक पेशाब-पाखानेके द्वारों-से दोष निकलेगा।

: ५ :

बिना पीड़ाके बच्चा जनना

यदि हम गाय, भैंस, कुत्ते, बिल्लीको देखें तो मालूम होगा कि उन्हें बच्चे जननेके लिए किसीकी मददकी जरूरत नहीं होती। न पीड़ा होती है, न अधिक समय लगता है। जननेका समय आने पर जानवर कभी घबराते भी नहीं पाये जाते। बच्चा जननेके बाद वे तत्काल ही अपने कामोंमें लग जाते हैं,

पर स्त्रियोंमें क्या होता है? बिना दाईकी मददके बच्चा जनना लोगोंकी समझमें ही नहीं आता। बच्चा जननेकी क्रिया स्वाभाविक न रहकर बनावटी-सी हो गई है।

इन सबका कारण एक ही है कि मनुष्य प्रकृतिसे दूर होता जा रहा है। खानपान और रहन-सहनकी अनियमितताके कारण उसके शरीरमें दोष-संचय हो जाता है और उसीके परिणाम-स्वरूप उसे यह सब कष्ट भुगतना पड़ता है।

वास्तवमें नीरोग माताएं पूरा गर्भ-काल बिना कष्टके बिताती हैं। निर्भय रहकर और नीरोग बालक को जन्म देती हैं। नीरोग मातासे मतलब है जिसके शरीरमें दोष-संचयका अभाव हो।

पर बच्चेका नीरोग होना पिताके शरीरमें दोष-संचय न होने पर निर्भर है। प्रकृति गर्भाशयमें बढ़नेवाले बच्चेको माता-पिताके अत्यन्त शुद्ध परमाणुओंसे बनानेका यत्न करती है। पर गर्भाधान कालमें पिता और माताकी जो इन्द्रियां दोष-भाराक्रांत यानी रुग्ण होती हैं, बच्चेकी भी वे इन्द्रियां असम्पूर्ण रह जाती हैं, पूर्ण-

विकसित नहीं होती। इस प्रकार बच्चा दुनियामें असंपूर्ण-अनुपात शरीर लेकर जन्मता है। बच्चेके शरीरमें बाहर आनेपर यदि और दोष-संचय हुआ, जो आज टीके और कृत्रिम आहार के कारण न होना असंभव ही है तो यह दोष उसी ओरको जायगा, जहां उसे कम-से-कम प्रतिरोध मिलेगा, यानी असम्पूर्ण इंद्रियोंकी ओर जाकर जमा होगा। इस प्रकार हम बच्चेमें वही बीमारियां पाते हैं, जो उसके माता-पितामें होती हैं। प्राकृतिक चिकित्सा द्वारा और प्रकृतिके नियमोंको ध्यानपूर्वक अध्ययन करके हम किसी प्रकार भी ऐसे सारे दोषको निकाल डालनेमें समर्थ हो सकते हैं और शनैः-शनैः उन अंगोंको जो कि अपेक्षाकृत कमजोर हैं या जो विशेष रूपसे दोष-संचयोन्मुख हैं, स्वाभाविक और सशक्त कर सकते हैं। इस तरीकेसे हम समय पाकर आज की अपेक्षा अधिक स्वस्थ और दृढ़ नस्ल बना सकते हैं।

प्रायः देखा जाता है कि जिन माता-पिताओं के शरीरोंमें दोष-संचयकी अधिकता है, उनके बच्चोंमें भी वह आता ही है। कहा है 'तुख्म तासीर सोहबत असर'—जैसा बीज वैसा फल होगा। इससे मनुष्य-जाति पीढ़ी-दर-पीढ़ी अवनत होती जा रही है।

प्रकृतिमें हम कहीं नहीं पाते कि बच्चा जननेके कारण कोई मां कुरूप या भद्दी लगने लगी हो। पर मनुष्य-जातिमें पहले बच्चे के बाद ही स्त्री अधेड़-सी लगने लगती है। लोग कहते हैं, बच्चा जनने और दूध पिलानेके कारण ऐसा होता है। खान-पान ठीक रखते हुए भी हर बच्चेके बाद स्त्री क्षीण क्यों होती जाती है?

इसलिए कि मनुष्य-जाति को छोड़कर हम अन्य किसी प्राणी में नहीं पाते कि गर्भवती होनेके बाद मादा मैथुनकी इच्छा करती हो, बल्कि वह दूर रहती है। सृष्टिका नियम ही यह है। मैथुन

स्त्रीके गर्भ-धारणके लिए है, न कि शारीरिक मजेके लिए। मैथुनमें सदा रुधिरका प्रवाह जननेन्द्रियकी ओर होता है, यदि स्त्री पहलेसे गर्भवती है तो वह प्रवाह गर्भाशयके अन्दर अर्द्ध बने बालककी वृद्धिपर बुरा प्रभाव डालता है। स्त्रीके लिए भी मैथुन उस समय हानिकारक होता है।

प्रकृति-नियमोंके विरुद्ध इस तरहके आचरणोंके कारण ही गर्भके दिनोंमें अनेक प्रकारकी कष्टकर बीमारियां होती हैं, जैसे उल्टी, मिचली, दांतोंका दर्द, रक्तहीनता, कभी ठंड लगना, चिन्ता और रुदनकी प्रवृत्ति, स्नायुओंमें विकलता, साधारण भोजनकी ओरसे घृणा, भिन्न-भिन्न वस्तुओं पर असाधारण रूपसे मन चलना। यह अनुभवसिद्ध बात है कि हर स्त्रीकी साधारण बुद्धि गर्भकी दशामें उसे मैथुन से रोकती है। सृष्टि-नियमके विरुद्ध गर्भ-दशामें मैथुनकी इच्छा शरीरमें दोप-संचयका परिणाम है।

नीरोग मनुष्योंकी मैथुन-इच्छा और आजकी इस विह्वल और विवश करनेवाली इच्छामें फर्क होता है। मनुष्योंमें भी मनुष्य-जातिको बनाये रखनेके लिए मैथुनकी इच्छा तो स्वाभाविक है, पर वह **संपूर्ण विषयी विचारोंसे रहित होनी चाहिए।** इस दशाका ठीक अनुभव वही मनुष्य कर सकता है जो नीरोग है, अपने शरीरको सात्त्विक और स्वाभाविक भोजन द्वारा दोष-संचयसे मुक्त रखता है। जो व्यक्ति सृष्टि-नियमके विरुद्ध नहीं चलना चाहता, जो अपने शरीरको वशमें रखना चाहता है और काम-विकार को सीमासे बाहर नहीं जाने देना चाहता और कामेच्छाको दुःखद न रहने देकर सुखद करना चाहता है, उसे प्रकृतिकी ओर लौटना चाहिए।

इस जमानेमें बहुत बच्चे सृष्टि-नियमके विरुद्ध जन्मते पाये

जाते हैं। गर्भपात होते हैं, समयसे पहले बच्चे पैदा हो जाते हैं. कहीं करवटके बल बाहर आते हैं, कहीं पैरकी तरफ से। किसी-किसीका सिर बहुत बड़ा होता है, जिससे माताकी योनिको काटकर बच्चा निकालना पड़ता है। किन्हीं स्त्रियोंको असह्य दर्द चलते हैं, किन्हींको बिल्कुल क्षीण। इन सबका कारण माता के शरीरमें दोष-संचय है। गर्भाशयमें बालकके जगह छोड़ देने का कारण मातामें दोष-संचयका होना अथवा गर्भके मध्यकालमें कुछ गलत काम करना होता है। दोष-संचय या किसी आकस्मिक कारण, चोट या धक्के वगैरहके कारण, बालक आगेकी ओर हट जाता है, जिससे पेट बढ़ और तन जाना है। दोष-संचयके कारण गर्भाशयका मुख संकीर्ण हो जानेपर जननेमें तो अवश्य कठिनता होगी। माता-पिताके दोष-संचयके फलस्वरूप, बालकमें भी दोष-संचय हो सकता है, जिसके कारण उसका डीलडौल या सिर आवश्यकतासे अधिक बड़ा हो। इसके पैदा होने में कष्ट होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार पैदा होनेका रास्ता भी, अगर वहां दोष-संचय हुआ है। सूजा होता है और उसका लचीलापन बहुत कम हो जाता तो शरीरके दोष-संचयसे रहित होनेपर तो बिना किसी पीड़ाके बालक सुगमतापूर्वक पैदा होना चाहिए। झिल्लीके गर्भसे बाहर न निकलनेका भी यही कारण होता है।

बच्चा जननेमें यदि देर लगती हो और कष्ट होता हो तो उस समय घर्षण-मेहन-स्नानसे और पेड़ूपर मिट्टीकी पट्टी बांधनेसे अधिक कोई अच्छी क्रिया नहीं हो सकती।

इस चिकित्साकी बदौलत बहुत-सी स्त्रियां, जो अपनेको बच्चा जननेके अयोग्य समझती थीं, बच्चा जननेमें समर्थ हुई हैं।

: ६ :

बच्चा जननेके बाद

नीरोग स्त्रीको तो किसीसे यह पूछनेकी जरूरत ही नहीं होनी चाहिए कि बच्चा जननेके बाद वह क्या करे। अन्य जीवधारियोंकी भांति ही जंगली स्त्रियां भी बच्चा जननेके बाद पड़ी नहीं रहतीं, काम में लग जाती हैं। पर शहरी स्त्रियोंके लिए तो यह असंभव ही हो गया है। हफ्ते-डेढ़ हफ्ते तक उन्हें खाट पर रखा जाता है, कहीं-कहीं तो दो हफ्तों तक।

लेटाकर रखनेका मतलब स्त्रीमें कमजोरी आ जाना नहीं होता, बल्कि जननेन्द्रिय वगैरहके अपनी स्वाभाविक स्थितिमें आ जानेके उद्देश्यसे होता है। पर खाटपर पड़े रहनेमें कई तरहकी हानियां भी हैं। शरीरसे काम न लेनेके कारण पाचन-शक्ति मंद हो जाती है, खुराक अंग न लगनेके कारण कमजोरी आती है। प्रायः सख्त कब्ज हो जाता है। दूसरी ओर, जननेन्द्रिय आदिके स्वाभाविक दशामें आ जानेके पहले खाट छोड़ना भी हानिकारक होता है, इससे पेट लटक जाता है। कई बच्चेवाली स्त्रियोंके ऐसे पेट देखे जाते हैं।

अच्छा तो यह है कि बच्चा जननेक बाद जच्चाकी जितनी देर आराम करनेकी इच्छा हो, आराम करे। अच्छा तो उसका थोड़ी देर सो जाना है। फिर ७३ से ७७ डिग्री गरम पानी (कुएंके ताजे जल) में मेहन-स्नान लें और जननेन्द्रियके पासके सारे हिस्सेको धो डालें। बैठनेकी चौकीपर पानी तीन इंच तक ऊंचा रहना

चाहिए। स्नानके बाद पेड़ के चारों ओर मजबूत फीता लगी हुई पट्टी बांधनी चाहिए। पट्टी बांधनेका तरीका सामनेकी तस्वीरमें दिखाया गया है। फीतेको पहले किसी किवाड़के हैंडलमें बांधकर पट्टीका दूसरा सिरा पेड़ूके चारों ओर लपेटकर मजबूतीसे पकड़ रखें और फिर घूम-घूम कर सारी पट्टीको चारों ओर कसकर लपेटकर फीतोंके सिरे से बांध दें। पट्टी १ फुट चौड़ी और उसकी लंबाई ८ फुट होनी चाहिए। अगर स्त्रीकी कमर ज्यादा मोटी हो तो पट्टी लम्बी लग सकती है। तीन फेरे हो जाने चाहिए। पट्टी बांधनेसे भीतरी यंत्रोंको आवश्यक सहारा मिल जाता है। फिर यदि स्त्रीके शरीरमें काफी ताकत हो तो वह बेखटके खाट छोड़ सकती है। पर यदि उसे कुछ पीड़ा मालूम होती हो तो तीसरे-चौथे दिन तक पट्टी नहीं बांधनी चाहिए। नहानके बाद पट्टी तीन-चार सप्ताह तक बराबर बांधते रहना चाहिए। यदि और किसी प्रकारकी पीड़ा न हो तो पट्टीके सिवा और किसी चीजकी जरूरत नहीं है। पर यदि ज्वर-सा प्रतीत हो तो मेहन-स्नान लेना चाहिए और हर मेहन-स्नानके बाद मिट्टीकी पट्टी भी। चटवाली पट्टीको खोलकर स्नानके बाद फिर पट्टी बांध लेनी चाहिए। इस उपचारसे शीघ्र पसीना आ जायगा, ज्वर दूर हो जायगा और शरीर ठीक काम करने लगेगा।

संभव हो तो माताको अपने बच्चेको स्तनसे ही दूध पिलाना चाहिए। यह ख्याल रखें कि अधिक पौष्टिक खुराकसे दूध नहीं बढ़ता है, बल्कि घटता है। इस मामलेमें भी प्रकृतिके मार्गपर ही चलना उचित है। भूख-प्यास लगनेपर ही सादा भोजन करें। इस आहारसे तन्दुरुस्त स्त्रियोंका दूध बढ़ता है और वह दूध बच्चेके लिए भी बहुत अच्छा और पौष्टिक होता है।

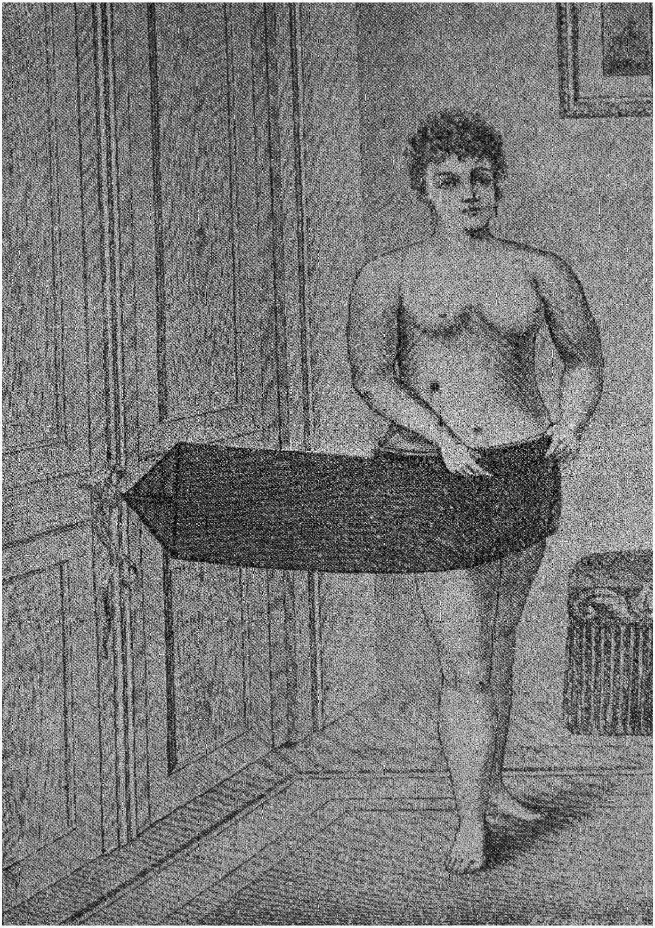

: ७ :

बच्चेका पालन-पोषण

प्राकृतिक नियमानुसार तो दूध पीनेकी अवस्था तक बच्चेका और मांका बहुत निकट संबंध होता है, क्योंकि बच्चेके पनपनेके लिए मांके शरीरकी गरमी उसके लिए बहुत जरूरी होती है। उसे मांसे अलग करके उस गरमीसे वंचित करना बहुत गलत है। दुर्भाग्यवश आज बहुतेरी स्त्रियां इस अत्यन्त आवश्यक विषयपर ध्यान नहीं देतीं।

छोटे-से-छोटे बच्चेको भी कटिस्नान देकर माताके शरीरकी गरमी पहुंचानेसे उसका हाजमा वगैरह दुरुस्त किया जा सकता है।

आजकल शहरकी अधिकांश स्त्रियां अपनी संतानको पूरा दूध पिलानेमें असमर्थ होती हैं या उनके दूध ही नहीं उतरता। इससे अधिकांश बच्चे बहुत दुर्बल पाये जाते हैं। माताको दूध न होनेपर धायका दूध पिलाना सबसे अच्छा है। पर धाय भी नीरोग न हुई तो उसके दोष-संचयका भागीदार वह बच्चा होगा। इसके सिवा बच्चा जो दोष-संचय गर्भसे लाया होगा वह तो उसके पास होगा ही। पूर्ण नीरोग धायका मिलना भी कठिन ही होता है। बहुत बार बच्चेको डिब्बे और शीशियोंकी खुराकें दी जाती हैं, जो उसे मुआफिक नहीं होतीं, न वह ठीक तैयार ही की जाती हैं। बालकको दिया जानेवाला गायका दूध थोड़ा ही गरम करना चाहिए। औटाया हुआ दूध बहुत मुश्किलसे पचता है। दूधमें-

के हानिकारक कृमियोंको मारना कोई महत्त्व की बात नहीं है।

अच्छी खुराककी पहचान उसका आसानीसे पचना है। पाचन-शक्ति सही रहनेपर पाचक रसोंकी शक्ति शरीरके लिए हानिकारक तत्त्वोंको नष्ट कर देती है—शरीरसे निकाल देती है। कच्चा दूध बहुत जल्द पच जाता है और औटाया हुआ दूध आमाशयमें देर तक पड़ा सड़ता रहता है। इसलिए साधारण खुराककी अपेक्षा उसमें अधिक उद्वेग (फरमेंटेशन) आता है।

बालकोंकी बहुतेरी बीमारियों और उनकी अधिक मृत्युका कारण उनकी खुराककी खराबी है। डिब्बे और शीशियोंकी खुराकें बच्चेके पाचन को बिगाड़ती हैं। उनका आमाशय फैल जाता है और पाचन-शक्ति खराब हो जाती है, जिसके कारण उसे तकलीफ रहती है।

दूधको पकाकर–फिर वह चाहे जैसे पकाया जाय—उसका शीघ्र पचनेवाला अंश नष्ट कर दिया जाता है। पेटमें पहुंचते ही दूधका पाचन शुरू हो जाना चाहिए। पर पके दूधमें यह बात नहीं होती। वास्तवमें तो दूध थनोंसे, बिना हवा लगे, पीनेवाले प्राणीके मुंहमें जाना चाहिए। माताके स्तनों द्वारा तो बिना हवा लगे ही वह बच्चेके पेटमें जाता है। हवा लगते ही उसमें रासायनिक परिवर्तन शुरू हो जाता है और बच्चेकी पाचन-शक्तिपर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। ताजे दूधमें इतने परिवर्तनसे विशेष फर्क नहीं पड़ता। फिर भी सावधानी आवश्यक है, क्योंकि गायका भी दोष-संचयसे रहित होना प्रायः असंभव है।

मोटी-ताजी और चौबीस घंटे थानपर बंधे-बंधे खानेवाली गायसे निर्दोष दूधकी उम्मीद करना गलत है। दोष-संचयके कारण वह फूली दीखती है। शहरमें अधिकांश लोगोंको लाचार

ऐसी गायोंका दूध पीना पड़ता है। शहरी जिन्दगीमें स्वस्थ गायों-का दूध मिलना मुश्किल ही है।

गायके दूधके बजाय बच्चेको जई[1]के आटेकी लपसी देनी चाहिए। यह लपसी अच्छे मोटे अन्नकी बनाई जानी चाहिए। उसमें नमक या शक्कर नहीं मिलानी चाहिए।

बच्चेके शरीरमें दोष-संचय होनेसे उसकी प्रकृति और बुद्धि-में भी फर्क पड़ता है। पढ़ने-लिखनेमें मन न लगानेवाले अथवा जिद्दी लड़कोंके बारेमें तलाश किया जाय तो उनके शरीरमें दोष-का पता चलेगा।

इसी प्रकार लड़कपनमें ही काम-विकारकी प्रवृत्ति और उसके फलस्वरूप आत्मघाती हस्तमैथुनकी आदतका कारण भी शरीरका दोष-संचय ही है। उसके लिए लड़कोंको ताड़ना न देकर समझाना चाहिए और प्राकृतिक चिकित्साके उपायसे शरीर से दोष-संचयको दूर करना चाहिए।

---

[1] जर्मनीमें जई ज्यादा होनेके कारण ग्रन्थकारने उसकी सिफारिश की है, लेकिन हिंदुस्तानमें उसकी जगह जौ या गेहूंकी लपसी दी जा सकती है।